धर्म-वीर सुदर्शन

काव्यकार

राष्ट्र-सन्त उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादन

विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

प्रकाशक :

श्रीसन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

पुस्तक :
धर्म-वीर सुदर्शन

काव्यकार :
राष्ट्र-संत उपाध्याय अमरमुनि

सम्पादन :
विजय मुनि, शास्त्री

प्रथम संस्करण :
१ मार्च, १९९५

मूल्य :
तीस रुपये

प्रकाशक :
श्रीसन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

मुद्रक :
रतन आर्ट्स
संजय प्लेस, आगरा
(५१९९२

पुस्तक मज्जा :
सुबोध लॉजिक सिस्टम्स
२००, जयपुर हाउस कॉलोनी,
आगरा
(२१०३४४

अभिनन्दन

बाबू कस्तूरी लाल जी जैन, जैन समाज आगरा के मुख्य कार्यकर्त्ताओं में से एक अद्वितीय व्यक्ति थे । धर्म एवं समाज के प्रत्येक कार्य में अग्रणी रहते थे । स्वभाव से सदा हंसमुख, प्रकृति से भावुक और कृति से दानवीर थे । साधु-सन्तों के परम भक्त थे । आपकी धर्म-पत्नी श्रीमती शान्ति देवी जी भी धर्म-प्रिय महिला थीं । तपस्या करने और कराने में आपकी विशेष अभिरुचि थी । अपने जीवन-काल में उन्होंने पच्चीस से अधिक अठाई तप किये थे । तप की साधना में सदा प्रसन्न एवं शान्त रहती थीं ।

दानवीर पिता के और तपोवीर माता के मूल संस्कार उनके पुत्र और पुत्रियों में भी साकार हुए हैं—समस्त परिवार आपका धर्म-प्रिय तथा सुन्दर संस्कार वाला है । तप-जप और धर्म-क्रियाओं में अभिरुचि रखता है । श्री कृष्ण कुमार जी, श्री नरेन्द्र कुमार जी और श्री रवीन्द्र कुमार जी ने अपने माता-पिता की पुण्य स्मृति में पूज्य गुरुदेव राष्ट्र सन्त श्री अमरचन्द्र जी महाराज की काव्य पुस्तक 'धर्म-वीर सुदर्शन' के प्रकाशन कराने में उदार भाव से पूरा अर्थ सहयोग प्रदान किया है । व्यापार में संलग्न होने पर भी तीनों भाइयों में धार्मिक साहित्य पढ़ने की विशेष अभिरुचि प्रशंसनीय है । अतः सन्मति ज्ञान पीठ की ओर से आप तीनों का सहर्ष अभिनन्दन किया जाता है ।

विजय मुनि शास्त्री
जैन भवन, मोती कटरा
आगरा

शत-शत वन्दन

तुम अभिनव युग के नव विधान,
रूढ़ बन्धनों के मुक्ति गान,

हे युग-पुरुष, हे युगाधार, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

ज्ञान-ज्योति की ज्वलित ज्वाला,
आत्म - साधना का उजाला,

हे मिथ्या-तिमिर अभिनाशक, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

तुम नव्य नभ के नव विहान,
नयी चेतना के अभियान,

श्रमण-संस्कृति के अमर-गायक, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

अतीत युग के मधुर गायक,
अभिनव युग के हो अधिनायक,

नूतन-पुरातन युग-शृंखला, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

तू पद-दलितों का क्रान्ति-घोष,
अबल-साधकों का शक्ति-कोष,

हे क्रान्ति-पथ के महापथिक, अभिवन्दन है, शत-शत वन्दन !

काव्य-साहित्य

१. अमर पद्य मुक्तावली	२. अमर पुष्पाञ्जलि
३. अमर कुसुमाञ्जलि	४. अमर गीताञ्जलि
५. संगीतिका	६. कविता-कुञ्ज
७. अमर माधुरी	८. जगद्गुरु महावीर
९. जिनेन्द्र-स्तुति	१०. धर्मवीर सुदर्शन
११. सत्य हरिश्चन्द्र	१२. श्रद्धाञ्जलि

स्व. लाला कस्तूरीलाल जी जैन

स्व. श्रीमती शान्तिदेवी जैन

भूमिका

मनुष्य-जीवन का आधार उसका सदाचार है । जैसे चमक के बिना मोती किसी काम का नहीं होता है, वैसे ही सदाचार के बिना मनुष्य-जीवन किसी काम का नहीं होता । मनुष्य अपने इस शरीर को सुरभित करने के लिए चन्दन एवं अगर आदि का प्रयोग करता है, अपने गले में सुरभित पुष्पों की माला पहनता है, किन्तु वह यह नहीं सोचता, कि जीवन सदाचार के बिना सुरभित नहीं बनाया जा सकता । इन बाहरी सुगन्धों से सदाचार की सुगन्ध ही श्रेष्ठ है । सदाचार जीवन का एक विशिष्ट गुण है, जिसके अभाव में एक पशु में और एक मनुष्य में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहता है । जीवन में धन का अभाव सहन किया जा सकता है, पूजा और प्रतिष्ठा का अभाव भी सहन किया जा सकता है, तथा दरिद्रता के भार को भी उठाया जा सकता है, किन्तु चरित्र-हीनता को तथा चरित्र-भ्रष्टता को किसी भी प्रकार सहन नहीं किया जा सकता । सच्चरित्रता मानव-जीवन का एक सर्वश्रेष्ठ गुण है, जिसके आधार पर मानव ने इस समग्र सृष्टि में अन्य प्राणियों की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की है ।

भारतीय तत्व-चिन्तक जब मानव-जीवन पर गम्भीरता के साथ विचार करते हैं, तब उनके विचार-मन्थन का सार यही निकलता है—**"धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ।"** धर्म-हीन जीवन पशु-जीवन के बराबर है । धर्म-हीन मानव में और पशु में केवल आकृति का भेद रह जाता है । महर्षि व्यास ने एक दिन यह कहा था—"इस सृष्टि में सर्वाधिक बुद्धिमान और सर्वाधिक योग्य प्राणी मनुष्य ही है ।" मनुष्य से बढ़कर श्रेष्ठ इस सृष्टि में अन्य कोई प्राणी नहीं हो सकता । मन में विचार उठता है, आखिर मनुष्य में ऐसी क्या विशेषता है, जिसके आधार पर मनुष्य के जीवन को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वज्येष्ठ कहा गया है ? उक्त प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि—मानव-जीवन की इस सर्वश्रेष्ठता का आधार उसका अपना चरित्र, उसका अपना सदाचार और उसका अपना संयम ही है ।

पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध दार्शनिक और विचारक जेम्स एलन ने कहा है—"There is no substitute for beauty of mind and strength of character." मन के सौन्दर्य और चरित्र-बल की समानता करने वाली कोई दूसरी वस्तु नहीं है । तात्पर्य यह है, कि जब तक मनुष्य में चरित्र-शीलता उत्पन्न नहीं होगी, तब तक उसके जीवन में सुन्दरता, सुषमा और संस्कृति का प्रवेश नहीं हो सकेगा । तन उजला हो और मन काला हो, तो इस प्रकार के जीवन से मनुष्य को किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता । शरीर यदि गौर वर्ण नहीं है, परन्तु मन में पवित्रता है, तब जीवन का कल्याण हो सकता है । मानव-संस्कृति का मुख्य सिद्धान्त यही है,

कि मन की पवित्रता ही उसके जीवन-विकास का आधार है । मानव योद्धा नेपोलियन ने एक बार कहा था—"Be a man of action and high character. मनुष्य को सदा कर्मशील रहना चाहिए और सदा चरित्रशील रहना चाहिए ।" जो मनुष्य कर्मशील है और चरित्रशील है वह संसार में कहीं पर भी क्यों न चला जाए, उसका आदर और उसका सत्कार सर्वत्र किया जाता है । जिस मनुष्य के पास सदाचार की और चरित्रशीलता की पूँजी है, उस व्यक्ति के लिए विदेश भी अपना स्वदेश बन जाता है और उसके लिए परजन भी स्वजन बन जाता है ।

भारतीय संस्कृति सदा से इस तथ्य को स्वीकार करती रही है, कि मनुष्य स्वयं इन्द्र है और इसकी इन्द्रियाँ सदा इसकी दासी रही हैं । पर कब, जबकि मनुष्य अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर सके और अपने मन का निरोध कर सके । इन्द्रियों के निग्रह को और मन के निरोध को ही दर्शन-शास्त्र में योग कहा गया है । योग-साधना वही व्यक्ति कर सकता है, जो अपने जीवन को संयम में रख सके और अपने जीवन को अपने नियन्त्रण में रख सके । भारतीय संस्कृति इन्द्रियों का दास होने में वीरता स्वीकार नहीं करती, अपनी इन्द्रियों का स्वामी बनने में ही वह वीरता मानती है । एक महान् विचारक ने कहा है—"Most powerful is he who has himself in his own power." कहने का अभिप्राय यह है, कि शक्ति-सम्पन्न वही है, जो अपने मन पर और इन्द्रियों पर अधिकार कर सके । यूनान के महान् विचारक पाइथागोरस ने अपने युग की मानव-जाति को सम्बोधित करते हुए कहा था—"No man is free who cannot command himself. मैं उस व्यक्ति को स्वतन्त्र नहीं कह सकता, जो अपने आप पर संयम का नियंत्रण न कर सके ।" संयम-शीलता और चारित्र-शीलता मानव-जीवन का एक ऐसा गुण है, जिसमें संसार के समग्र गुणों का समावेश हो जाता है । स्वर्ग के देव, धरती के राजा और नगर के नगर-पति किसी संत के चरणों में जब नत-मस्तक होते हैं, तब उसका आधार उस संत का संयमी जीवन ही होता है । भारतीय संस्कृति ने प्रारम्भ से ही सम्राट की अपेक्षा एक संयम-शील संत का ही सत्कार, सम्मान और समादर किया है ।

भारतीय संस्कृति के साहित्य में आपको सर्वत्र एक ही स्वर झंकृत मिलेगा—सदाचार और संयम । सदाचार और संयम ही सबसे बड़ा धर्म है । इस धर्म की व्याख्या और परिभाषा करने के अनेक साधनों में किसी महापुरुष के जीवन-चरित्र का कथन करना भी एक साधन रहा है । संयम क्या है, सदाचार क्या है और धर्म क्या है ? इस तथ्य को और इस सिद्धान्त को केवल किसी शास्त्र के पन्नों के आधार पर ही नहीं समझा जा सकता, जब तक कि जन-चेतना के समक्ष उसका साकार रूप उपस्थित न कर दिया जाये । धर्म और सदाचार का साकार रूप क्या है ? धर्मी और सदाचारी व्यक्ति का जीवन । जब हम किसी धर्मी और किसी सदाचारी व्यक्ति के जीवन को देख लेते हैं, अथवा सुन लेते हैं, तब हमें उस धर्म का और उस सदाचार का यथार्थ बोध हो जाता है । गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बहुत से सुन्दर सिद्धान्तों की शिक्षा दी । पहले उसे ज्ञान-योग सिखाया, फिर उसे कर्म-योग सिखाया और अन्त में उसे भक्ति-योग

बतलाया । परन्तु ये सब कुछ सुन कर भी अर्जुन के मन का समाधान नहीं होने पाया और वह बोला—"भगवन् ! मैं कुछ नहीं समझ पाया हूँ । ज्ञानवाद, कर्मवाद और भक्तिवाद की यह गहन गम्भीर चर्चाएँ मेरे मन और मस्तिष्क में नहीं पैठ सकी हैं । आपने अपने दार्शनिक प्रवचन में जिस स्थित-प्रज्ञ पुरुष की व्याख्या की है और जिसके स्वरूप का आपने प्रतिपादन किया है, उसका साकार रूप ही आप मुझे बतलाइए । वह कैसी भाषा बोलता है ? उसका आचरण कैसा होता है ? और उसका व्यवहार कैसा होता है ? अर्जुन के इस प्रकार पूछने पर भगवान श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका अन्तर्मर्म यह है कि—"तू मुझे ही देख और समझ । मेरे जीवन को देखकर तू उस स्थित-प्रज्ञ का विचार कर, जिसका स्वरूप मैंने तुझे बतलाया है ।"

भारतीय साहित्य का परिशीलन करने पर परिज्ञात होता है, कि आज से नहीं, बहुत प्राचीन काल से ही मानव को धर्म का रहस्य समझाने के लिए किसी न किसी चरित्र का, कथानक का और आख्यान का आधार लिया गया है । जैन-आगमों में, बौद्ध पिटकों में और वैदिक परम्परा के उपनिषदों में इस प्रकार के हमें अनेक निदर्शन मिल जाते हैं, जहाँ पर किसी व्यक्ति के जीवन की कहानी को कहकर फिर धर्म-रहस्य समझाने का प्रयत्न किया है । इसके सबसे अच्छे उदाहरण योग-वाशिष्ठ, रामायण, महाभारत और पुराण हैं । कम से कम समझ का व्यक्ति भी इनको पढ़कर और सुनकर आसानी से धर्म के रहस्य को समझ सकता है ।

जैन-परम्परा के साहित्यकारों ने प्रारम्भ से ही इस ओर ध्यान दिया है । यही कारण है कि जैन-परम्परा का कथा-साहित्य अत्यन्त समृद्ध और विपुल मात्रा में रचा गया है । जैन-कथाकारों ने अपने-अपने युग की भाषा और संस्कृति को भी अपने कथा-ग्रन्थों में अपनाया है । यही कारण है, कि जैन-कथा-साहित्य भारत की विभिन्न भाषाओं में आज भी उपलब्ध होता है । प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, मराठी और दक्षिण भारत की कन्नड़, तेलगु एवं मलयालम आदि अनेक भाषाओं में जैन परम्परा का कथा-साहित्य बिखरा पड़ा है । जैन कथा-साहित्य के स्रष्टा साहित्यकारों ने अपने-अपने युग की भाषा का सदा आदर किया है । उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम सदा से जन-बोली को ही बनाया है । आज से दो-तीन शताब्दी पूर्व जैन-कथाएँ अपभ्रंश में लिखी जाती थीं अथवा उस हिन्दी में लिखी जाती थीं, जिसे कबीर की सधुक्कड़ी भाषा कहा जाता है । परन्तु जैसे-जैसे हिन्दी भाषा का विकास होता गया, जैन परम्परा के साहित्यकारों ने उसे अपनाया और उसी में अपनी कलम का चमत्कार दिखलाया । मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि जैन विद्वानों को कभी किसी भाषा का व्यामोह नहीं रहा । वे जिस किसी भी प्रान्त में चले गये, उन्होंने उसी प्रान्त की भाषा को अपना लिया और उसी में अपनी रचना करने लगे । भाषावाद और प्रान्तवाद को कभी भी जैन लेखकों ने प्रोत्साहित नहीं किया । आज के युग के बड़े-बड़े जैन विद्वान हिन्दी में ही अपनी रचना को प्रस्तुत करने में अपना गौरव समझते हैं ।

क्योंकि वे हिन्दी को अपनी राष्ट्र-भाषा समझते हैं । राष्ट्रभाषा का गौरव उनके मन में सदा से रहा है ।

प्रस्तुत में, धर्म-वीर सुदर्शन के विषय में, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ । धर्म-वीर विशेषण इस भाव को अभिव्यक्त करता है, कि सुदर्शन धर्म की आराधना से ही वीर बना था । सहज जिज्ञासा उठती है, कि यह सुदर्शन कौन था ? किस देश का था, किस जाति का था और इसके जीवन की क्या विशेषता थी, कि किसी कवि को उसके जीवन को आधार बना कर अपने युग की जन-चेतना के समक्ष धर्म और सदाचार का महत्त्व बतलाने की प्रेरणा मिली ? एक बात मैं यहाँ स्पष्ट कर दूँ । धर्म-वीर सुदर्शन का चरित्र अनेक लेखकों ने लिखा है और अनेक भाषाओं में लिखा गया है । संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में धर्म-वीर सुदर्शन का जीवन बहुत पहले ही लिखा जा चुका था, किन्तु आधुनिक हिन्दी में और वह भी अलंकृत हिन्दी में काव्यमय रचना प्रथम बार ही कवि श्री जी के द्वारा प्रस्तुत की गई है । सुदर्शन कौन था और किस देश का था तथा किस जाति का था ? इन सब प्रश्नों का समाधान पाठक प्रस्तुत काव्य पुस्तक को पढ़कर ही पा सकेंगे । अथ से इति तक कथा को दुहराने की यहाँ पर आवश्यकता नहीं है । परन्तु यहाँ पर इतना जानना तो अवश्य ही अभीष्ट है, जिस वासना और कामना का मनुष्य दास बना रहता है, उस कामना और वासना पर सुदर्शन ने, साधु बन कर नहीं, गृहस्थ में रहते हुए भी, प्रभुत्व प्राप्त कर लिया था । शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा की जो दीर्घ प्रशस्ति प्रस्तुत की गई है, उसका साकार रूप सेठ सुदर्शन था । सेठ सुदर्शन के जीवन के कण-कण में जैन-संस्कृति परिव्याप्त थी । उसके अस्थि और मज्जागत संस्कार कुछ इस प्रकार के थे, कि उसका जीवन प्रारम्भ से ही धर्ममय और सदाचारमय रहा था । सुदर्शन के जीवन का पूर्ण चित्र पाठक तभी पा सकेंगे अथवा देख सकेंगे, जबकि वे उसके इस काव्यमय जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ जाएँगे । इस काव्य में जो कुछ कहा गया है, वह काल्पनिक नहीं है, बल्कि मानव की इस धरती पर घटित सत्यमयी घटना है । पर आज नहीं, आज से सैकड़ों वर्षों पूर्व, बल्कि हजारों वर्ष पूर्व यह घटना भारत की इसी पवित्र धरती पर घटी थी, जिसका अंकन आज के कवि ने, आज की भाषा में और आज के मानव को सदाचार की महिमा बताने के लिए किया है ।

प्रस्तुत काव्यमय जीवन-चरित्र के रचयिता गुरुदेव परम श्रद्धेय राष्ट्र-सन्त कविरत्न उपाध्याय श्री अमर मुनि जी महाराज हैं । आपने इस प्रस्तुत काव्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से काव्य ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें सत्य 'हरिश्चन्द्र' बहुत ही प्रसिद्ध है, 'श्रद्धांजलि' आपका एक खण्ड काव्य है । इसके अतिरिक्त आपने अध्यात्म, सांस्कृतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय गीतों की रचना भी की है, जिसका प्रकाशन समय-समय पर 'अमर पुष्पाञ्जलि, अमर गीताञ्जलि, अमर कुसुमाञ्जलि और संगीतिका' के नाम से हो चुका है । आपकी कविताओं का संग्रह कविता-कुञ्ज और अमर-माधुरी में हो चुका है । इस प्रकार कवि श्री जी महाराज ने समय-समय पर समाज और राष्ट्र में जागरण लाने के लिए अनेक सुन्दर काव्य ग्रन्थों की रचना की है । आपके

साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ कविता से ही हुआ है । अतः समाज के प्रायः सभी आबाल-वृद्ध लोग आपको कवि जी के नाम से जानते और पहचानते हैं । भारत के आप किसी भी प्रान्त में चले जाइये और वहाँ के किसी जैन से बातचीत कीजिए, उस बातचीत के प्रसंग में वह अमरमुनिजी अथवा अमरचन्द्रजी महाराज शब्द का प्रयोग न करके, कविजी महाराज शब्द का ही प्रयोग करता है । कवि श्री जी के गीतों में, कविताओं में और काव्यों में धर्म, दर्शन और संस्कृति का इतना संतुलित समन्वय हुआ है, वह अन्यत्र आपको किसी अन्य जैन कवि में उपलब्ध नहीं होगा । भाव, भाषा और शैली—तीनों सुन्दर हैं, मधुर हैं और रुचिकर हैं । प्रस्तुत में 'धर्म-वीर सुदर्शन' काव्य की बात मैं आपसे कह रहा था । प्रस्तुत काव्य सोलह सर्गों में परिसमाप्त हुआ है । इसकी भाव, भाषा और शैली इतनी आकर्षक और लोकप्रिय रही है, कि इसका पञ्चम संस्करण अब आपके सामने प्रस्तुत किया जा रहा है । भारत की अन्य भाषाओं में भी इसका पद्यानुवाद हो चुका है । वर्षावास में कथाकार मुनि, धर्म-वीर सुदर्शन को अपनी कथा का आधार बना कर अपने व्याख्यान और भाषण का रंग जमाते हैं । स्थानकवासी संत ही नहीं, तेरापंथ और मूर्ति-पूजक समाज के संत भी अपने-अपने व्याख्यानों में इसका आधार लेकर जन-चेतना को शील और सदाचार का महत्त्व बतलाते हैं । इसकी भाषा सरल और सुन्दर होकर भी अलंकृत है । इन्हीं सब बातों से यह काव्य जन-मन का एक लोक-प्रिय काव्य बन गया है । कुछ वर्षों से यह अनुपलब्ध था और चारों ओर से इसकी माँग हो रही थी । अतः ज्ञान-पीठ से इसका पुनः प्रकाशन हुआ है । किसी भी काव्य और पुस्तक की लोक-प्रियता और सफलता का आधार यही होता है, कि उस युग की जन-चेतना उसे अधिक से अधिक अपनाये और उसके उदात्त विचारों को अपने जीवन में उतारे ।

'धर्म-वीर सुदर्शन' काव्य की रचना कब और कैसे हुई, इसकी भी एक रोचक कहानी है । सम्वत् १९९३ के फाल्गुन मास में होली के उत्सव पर कवि श्री जी महाराज नारनोल से देहली जाते हुए गोकुलगढ़ ग्राम में ठहरे हुए थे, जो रेवाड़ी के समीप है । उस समय होली के हुड़दंग को देखकर और सदाचार की संस्कृति के विपरीत गन्दे गीतों को सुनकर कवि श्री जी ने अपने मन में एक गहरी वेदना का अनुभव किया । कुछ स्वयं के हृदय की वेदना और कुछ साथी साधुओं की निरन्तर प्रेरणा का यह फल है, कि इस काव्य का प्रारम्भ वहीं पर हो गया था और कुछ काल बाद ही इसकी परिसमाप्ति भी हो गई थी । इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सम्वत् १९९५ में आगरा में ही हुआ था, और अपने अनेक संस्करणों के बाद फिर इसका यह पञ्चम संस्करण भी आज आगरा से ही हो रहा है । यही इस काव्य की सफलता और लोकप्रियता की मधुर कहानी है ।

—विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

❖

चन्दन, सुमन आदि की जितनी,
सुरभि विश्व में है सुन्दर।
शील धर्म की अक्षय मोहक,
सुरभि श्रेष्ठ सबसे बढ़ कर॥

पवन-प्रताड़ित एक ओर ही,
अन्य सुगन्ध महकती है।
शील-सुगन्ध किन्तु जगती के,
कण - कण - मध्य गमकती है॥

—उपाध्याय अमर मुनि

❖

कवि और कृतित्व

उपाध्याय अमर मुनि जी एक सन्त हैं, कवि हैं, विचारक हैं, महान् दार्शनिक हैं, साहित्यकार हैं, लेखक हैं और युग-दृष्टा एवं युग-पुरुष हैं । वे मानवता के सन्देश-वाहक हैं, जीवन के कलाकार हैं, उनके विचार, उनका चिन्तन, उनका लेखन एवं उनकी वाग्धारा कभी एक दिशा-विशेष में प्रवहमान नहीं रही, उसका प्रवाह सभी दिशाओं में गति-शील रहा है । वे जीवन की सभी दिशा-विदिशाओं को आलोकित करते रहे हैं । वस्तुतः कवि श्री जी सम्पूर्ण काल एवं सत्य के दृष्टा हैं । उनका साहित्य किसी काल, पन्थ, देश एवं जाति विशेष के बन्धन से आबद्ध नहीं है । उनका साहित्य, उनकी कठोर श्रुत-साधना एवं दीर्घ तपः-साधना का सुमधुर फल है । उनका आलेखन किसी साम्प्रदायिक क्षुद्र परिधि में घिरे रहकर नहीं, प्रत्युत समस्त मानव जाति के अभ्युदय को, विश्व-बन्धुत्व एवं विश्व-शान्ति की उदात्त भावना को सामने रखकर हुआ है ।

कविश्री जी अपने आप में परिपूर्ण हैं । अपने विचारों के वे स्वयं निर्माता हैं । वे किसी शक्ति के द्वारा अपने मन-मस्तिष्क पर नियन्त्रण करने के पक्ष में नहीं हैं । उनका विश्वास है कि सहज भाव से उद्भूत चिन्तन को जबरदस्ती रोकने का प्रयत्न करना महान् अपराध है । अतएव कविश्री जी का चिन्तन इन समस्त साम्प्रदायिक अँधेरी काल कोठरियों से मुक्त एवं उन्मुक्त है ।

वस्तुतः साहित्य ही व्यक्ति के जीवन का साकार रूप है । साहित्य व्यक्ति के व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया है । साहित्य केवल जड़ शब्दों एवं अक्षरों का समूह मात्र ही नहीं है, उसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व बोलता है, व्यक्ति का जीवन बोलता है । अस्तु, कविश्री जी का साहित्य ही उनका यथार्थ परिचय है । साहित्यकार सत्य का द्रष्टा होता है ।

साहित्य साधना के उषा-काल में, धर्म, समाज एवं राष्ट्र की डाली पर चहचहाने वाला कवि-हृदय केवल काव्य तक ही सीमित नहीं रहा । उनका विराट् चिन्तन साहित्य की समस्त दिशाओं को आलोकित करने लगा । उनकी लेखनी उनके गम्भीर चिन्तन एवं उदात्त विचारों का संस्पर्श पाकर दर्शन, आगम, काव्य, निबन्ध, संस्मरण, यात्रा-वर्णन, खण्ड-काव्य, कहानी एवं समालोचना आदि साहित्य-उपवन को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित करने लगी । साहित्य की कोई भी विधा आपके चिन्तन एवं लेखनी के स्पर्श से अछूती नहीं रही । आपके भाव, विचार, भाषा-शैली एवं

अभिव्यंजना सब कुछ अनुपम, अनुत्तर एवं अद्वितीय है । आपकी लेखनी से प्रसूत साहित्य है—

पद्य गीत	पद्य कविता
१. अमर पद्य मुक्तावलि	१. कविता कुञ्ज
२. अमर पुष्पाञ्जलि	२. अमर माधुरी
३. अमर कुसुमाञ्जलि	३. श्रद्धाञ्जलि
४. अमर गीताञ्जलि	४. चिन्तन के मुक्त स्वर
५. संगीतिका	५. अमर मुक्तक

प्रस्तुत गीतों एवं कविताओं में सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक तथा भक्ति-प्रधान गीत एवं कविताएँ हैं । आजादी के समय लिखे गये राष्ट्रीय गीतों ने देश के जन-मानस को प्रबुद्ध किया था, और आज भी वे गीत जन-जीवन में राष्ट्रीय भावों, भक्ति एवं धर्म चेतना को जागृत कर रहे हैं । यहाँ पर कविजी सन्त कबीर की भाँति सुधारक हैं ।

पद्य काव्य

१. धर्म-वीर सुदर्शन
२. सत्य हरिश्चन्द्र
३. जगद्गुरु महावीर
४. जिनेन्द्र स्तुति

साधना के पथ पर गति-शील प्रबुद्ध पुरुषों के जीवन का यथार्थ चित्रांकन किया गया है, इन काव्यों में ।

स्तोत्र-साहित्य

१. भक्तामर, २. कल्याण मन्दिर, ३. वीर स्तुति, ४. महावीराष्टक का हिन्दी अनुवाद भी महत्त्वपूर्ण है ।

निबन्ध-साहित्य

१. **आदर्श कन्या**—नारी का जीवन कैसा होना चाहिए । इसके लिए सही दिशा-दर्शन मिलता है, प्रस्तुत पुस्तक में । आदर्श नारी-जीवन का चित्रण किया गया है ।

२. **जैनत्व की झाँकी**—प्रस्तुत पुस्तक में सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन धर्म का संक्षेप में सांगोपांग विवेचन है । धर्म और दर्शन का समन्वय उपलब्ध है ।

३. **उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग**—जीवन, जीवन है । भले ही वह महान् साधक का भी क्यों न हो । अतः सदा काल एवं सर्वत्र एक-सा आचार-पथ नहीं रहता । देश-काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप आचार का मार्ग परिवर्तित होता रहता है ।

अपवाद में कुछ नियमों का उल्लंघन भी होता है, फिर भी वह मार्ग ही है, उन्मार्ग या कुमार्ग नहीं है । जीवन एवं साधना के सहज रूप को प्रस्तुत निबन्ध में स्पष्ट किया है । उत्सर्ग और अपवाद, दोनों ही धर्म हैं । दोनों आगम विहित होने से धर्म हैं ।

४. **महामन्त्र नवकार**—इसमें मन्त्र की विशेषता का सांगोपांग वर्णन एवं सभी दृष्टियों से विवेचन किया गया है । नमस्कार मन्त्र जैन धर्म का मूल आधार है ।

५. **समाज एवं संस्कृति**—सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति एवं समाज के विकास एवं आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए प्रस्तुत पुस्तक में गम्भीर विवेचन किया गया है । संस्कृति के स्वरूप का और उसके व्यापक रूप का वर्णन किया गया है ।

६. **चिन्तन की मनोभूमि**—प्रस्तुत विशाल-ग्रन्थ के अनुरूप कवि श्री जी के गहन अध्ययन, गम्भीर चिन्तन एवं उदात्त विचारों का कोष है । प्रस्तुत ग्रन्थ में चिन्तन का विषय जीव भी रहा है और जगत् भी; आत्मा भी रहा है और परमात्मा भी । परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म, दर्शन और अध्यात्म की मनोभूमि से जीवन का सर्वांगीण सत्य इसमें उद्घटित हुआ है । महान् साहित्यकार सेठ गोविन्द दास जी के शब्दों में—"प्रस्तुत ग्रन्थ अपने जन-हितकारी दृष्टिकोण के कारण जो भारत के मानव का दिशा-निर्देशन करता है, सामान्य तौर से भारतीय-दर्शन और विशेषकर जैन-दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है ।" समय-समय पर आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक एवं शास्त्रीय विषयों पर लिखे गये लेख जीवन को सही दिशा-दर्शन एवं नया मोड़ देने वाले हैं । वस्तुतः यह प्रतिनिधि ग्रन्थ है ।

सुविश्रुत दार्शनिक विद्वान श्री बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "उपाध्याय जी की दृष्टि पैनी है तथा लेखनी अर्थ-बोधिनी है । फलतः यह ग्रन्थ जैन-धर्म को साम्प्रदायिकता के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर विश्व-धर्म की विशालता पर पहुँचा देता है । भारत के तीनों धर्मों का सुन्दर समन्वय है ।"

व्याख्या-साहित्य

१. सामायिक-सूत्र और २. श्रमण-सूत्र ।

आवश्यक सूत्र साधना के लिए महत्त्वपूर्ण है । सामायिक एवं प्रतिक्रमण जीवन-साधना के लिए, समत्व-भाव में रमण करने के लिए अत्यावश्यक है । समत्व की साधना में कहीं स्खलन न हो और स्खलन हो जाये तो उसकी शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण—आत्म-निरीक्षण आवश्यक है । प्रस्तुत उभय ग्रन्थ सामायिक एवं श्रमण-सूत्र के भाष्य हैं । समत्व-योग एवं आत्म-निरीक्षण की साधनाओं पर अनेक दृष्टियों से विस्तृत विवेचन किया है । चिन्तनशील प्रबुद्ध साधकों के लिए दोनों

ग्रन्थ पढ़ने एवं चिन्तन करने योग्य हैं । दोनों ग्रन्थ साधक जीवन के आधारभूत ग्रन्थ कहे जा सकते हैं ।

प्रवचन साहित्य

१. उपासक आनन्द	९. अमर-भारती
२. अहिंसा-दर्शन	१०. प्रकाश की ओर
३. सत्य-दर्शन	११. साधना के मूल-मन्त्र
४. अस्तेय-दर्शन	१२. पञ्च-शील
५. ब्रह्मचर्य-दर्शन	१३. पर्युषण-प्रवचन
६. अपरिग्रह-दर्शन	१४. अध्यात्म-प्रवचन—१, २, ३
७. जीवन की पाँखें	१५. जीवन दर्शन
८. विचारों के नये मोड़	१६. सात वारों से क्या सीखें ?

अन्य भी प्रवचन ग्रन्थ हैं, जो अभी अप्रकाशित हैं ।

समय-समय पर विभिन्न स्थानों एवं विभिन्न वर्षा-वासों तथा विभिन्न प्रसंगों पर दिये गये प्रवचनों का प्रस्तुत पुस्तकों में संकलन है । गुरुदेव उपाध्याय श्री की पीयूषवर्षी दिव्य देशना में व्यक्तिगत, सामाजिक, पारिवारिक, नैतिक, राष्ट्रीय, आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन के सभी पक्षों को उजागर करने वाले विचार हैं । गृहस्थ एवं संन्यस्त दोनों जीवन की साधना के लिए प्रवचन-साहित्य उपयोगी है, आज उसकी निरन्तर माँग बढ़ती जा रही है । उसकी लोकप्रियता में कमी नहीं ।

१. **महावीर : सिद्धान्त और उपदेश;** और

२. **विश्व-ज्योति महावीर;** दोनों पुस्तकें भगवान महावीर से संबद्ध हैं ।

प्रथम पुस्तक में महाश्रमण महावीर के जीवन की अपेक्षा उनके सिद्धान्त एवं दिव्य-देशना (उपदेश) का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है । अन्त में भगवान के मूल वचन भी हैं ।

द्वितीय पुस्तक में आध्यात्मिक दृष्टि से अनन्त ज्योतिर्मय महावीर का विश्लेषणात्मक विवेचन है । यह पुस्तक छोटी होती हुए भी अपने आप में अनूठी है ।

निशीथ चूर्णि

कवि श्री जी ने अनेक ग्रन्थों एवं आगमों का सम्पादन किया है, उनमें महत्त्वपूर्ण हैं—"निशीथ-चूर्णि" । यह विशालकाय आगम चार खण्डों में परिसमाप्त हुआ है । आचार-साधना के लिए निशीथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है । मूल आगम सूत्र रूप में है । चूर्णि, भाष्य एवं निर्युक्ति में मूल सूत्रों के भावों का विस्तृत विवेचन है । साधना की धारा किस प्रकार बहे और बहते-बहते कभी स्खलित हो जाये, तो उसे

किस प्रकार शुद्ध करके पुनः गति-शील किया जाय । उत्सर्ग में साधक कैसे आचार का पालन करे और अपवाद में जीवन को किस प्रकार विवेक एवं प्रामाणिकता के साथ गतिशील रखे, जिससे संयम एवं आध्यात्मिक-साधना का सम्यक्-रूप से परिपालन कर सके । इसका विस्तृत विवेचन के साथ दार्शनिक, तात्विक, सैद्धान्तिक, विषयों का तथा उस युग की सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक स्थिति का और उस युग के रहन-सहन का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत इस महाग्रन्थ में है । यह चूर्णि अपने आप में विशेष ग्रन्थ है ।

निशीथ भाष्य के सम्पादन एवं प्रकाशन का साहस करके आपने ज्ञान के क्षेत्र में रही हुई एक बहुत बड़ी कमी को पूरा किया है । प्रस्तुत ग्रन्थराज एक महत्त्वपूर्ण कृति है, वस्तुतः यह ज्ञान-विज्ञान का बृहत्कोश है ।

इस महाग्रन्थ का द्वितीय संस्करण छप चुका है ।

सूक्ति त्रिवेणी

नाम के अनुरूप प्रस्तुत ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति एवं धर्म-दर्शन की त्रिवेणी—जैन, बौद्ध एवं वैदिक-धारा, जो यथार्थ में अखण्ड-अविच्छिन्न रूप से प्रवहमान है, उसके विशाल रूप के, दर्शन प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है । प्रस्तुत ग्रन्थ में उसके मौलिक-दर्शन एवं जीवन-स्पर्शी सार-भूत उदात्त वचनों को संकलित किया गया है, जो सामान्यजनों के लिए उपयोगी है ।

उपाध्याय श्री जी का चिन्तन देश, काल, सम्प्रदाय एवं पुरातन परम्पराओं की सीमा में आबद्ध नहीं है । वे सत्य के अनुसन्धित्सु हैं । इसलिए साम्प्रदायिक बाड़े-बन्दी से मुक्त होकर सत्य का साक्षात्कार किया है । उनकी दिव्य-दृष्टि एवं उनका समदर्शीत्व-भाव प्रस्तुत ग्रन्थ में परिलक्षित होता है, विशाल दृष्टिकोण भी ।

भारतीय तत्व-चिन्तन एवं जीवन-दर्शन की अनन्त ज्ञान-ज्योति इन छोटे-छोटे सुभाषिता में इस प्रकार सन्निहित है, जैसे छोटे-छोटे सुमनों में उपवन का सौरभमय वैभव छिपा रहता है । उसे जन-जीवन को आलोकित करने के लिए उपाध्याय श्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ श्रम एवं निष्ठा के साथ संकलित किया है ।

तीनों धाराओं के चिन्तन में कुछ भिन्नता भी है । लेकिन इतना तो दृढ़ आस्था से कहा जा सकता है, कि तीनों धाराओं की जीवन-दृष्टि मूलतः एक है और नैतिक एवं आध्यात्मिक अभ्युदय के उच्च आदर्शों को लिए हुए है । चिन्तन का विभाजन—जो कहीं-कहीं परिलक्षित होता है, वह भी एकान्त नहीं है । यदि व्यापक दृष्टि से देखें, तो एक अखण्ड जीवन-दृष्टि एवं चिन्तन की एकरूपता भी परिलक्षित होती है । भावात्मक एकता के साथ शब्दात्मक एकता के दर्शन करना चाहें, तो अनेक स्थल ऐसे हैं, जो अक्षरशः समान एवं सन्निकट हैं । यह तीनों संस्कृतियों का सुन्दर संगम-स्थल है ।

प्रस्तुत संकलन में उपाध्याय श्री ने इसी व्यापक एवं उदार समन्वयात्मक-दृष्टि को सामने रखा है । अतः जीवन-विकास के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ, जो डबल डिमाई साइज में लगभग ८०० पृष्ठों का है, अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है ।

महामहोपाध्याय पद्मभूषण गोपीनाथ कविराज, आगमों के सुप्रसिद्ध विद्वान पं. बेचरदास जी दोशी, स्व. राष्ट्रपति जाकिर हुसेन, आचार्य श्री तुलसी, युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ आदि विद्वानों द्वारा प्रशंसित है । जीवन साधना के सुन्दर सूत्र हर पेज पर मोतियों की भाँति बिखरे पड़े हैं ।

अभी भी गुरुदेव की साहित्य-साधना की धारा अनवरत गतिशील है । अनेक ग्रन्थ प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं । श्रुतदेवता, प्रज्ञामूर्ति, महान् साहित्य-स्रष्टा के चरणों में शत-सहस्र अभिवन्दन-अभिनन्दन । चिरं जीव, चिरं जय ।

"किस विधि से पूजा हो तेरी,
कौन अर्घ्य से तव पद पूजे ।"

तुम्हारे इस अनोखे सर्व-पूज्य एवं सर्व-स्तुत्य दिव्य-चित्र का अंकन मेरी सामान्य तूलिका न कर पायेगी । क्या अच्छा होगा—जगत्-कल्याण के हेतु सहज विस्फुरित आपकी दिव्य वाणी में हम सब आपके दर्शन करें, शब्दातीत को शब्दों में पाने का, स्पष्टता को सृजन में खोजने का यह एक नम्र प्रयास ही पूजा है । आपकी ही वस्तु आपके ही कर-कमलों में अर्पित है—

त्वदीयं वस्तु गुरुवर, तुभ्यमेव समर्पितम्
यही है, मेरी पूजा, यही है, मेरा भाव-संगीत ।

गुरु-देव, आप जैसे ज्ञान-देवता की अर्चना के हेतु, सुन्दर-पूजा का उपकरण और कौन-सा हो सकता है ।

मेरी पूजा का प्रकाश, मेरा भाव-संगीत, मेरी स्वर-ध्वनि, जन-जन के मन-मन तक पहुँच कर, मनुष्य के अवचेतन को चेतन में परिणत कर सके, तदर्थ है, मेरा यह प्रयास ।

❖

कवि जी का व्यक्तित्व

मनुज की जगती पर मनुज के जीवन के सत्य संकल्पों को साकार करने में जिसने अपनी समग्र शक्ति का आधान किया तथा जीवन की संध्या के चरम क्षणों तक करते रहने का जिसने सत्य व्रत स्वीकार किया है, उस अमर की—अमरत्व की 'अभय-ज्योति' को प्रकाशमय मस्तिष्क में, आलोकमयी वाणी से और ज्योतिर्मय जीवन से, जन-जन के जीवन के जीवन-देवता के चरण कमलों में कोटि-कोटि वन्दना के साथ अभिनन्दन करता है ।

समाज ने जिसको संस्कृति का संस्कार करने के कारण संस्कारक माना । धर्म ने जिसमें स्व और पर को धारण करने की शक्ति देखकर धार्मिक कहने में अपना स्वयं का गौरव स्वीकार किया । दर्शन ने, जिसमें साक्षात्कार करने का संकल्प पाकर दार्शनिक होने की सहज शक्ति को पाया । काव्य ने, जिसमें कल्पना, प्रतिभा और निसर्ग भावुकता देखकर कवि पद से विभूषित किया । जो कुछ पाना है, अन्दर में अन्दर से ही पाना है, पाना भी क्या है, जो कुछ अन्तर् में—सत्यं, शिवं, सुन्दरं युग-युग से है, उसी को प्रकट करना है । कविजी की यही संस्कृति है, यही धर्म है, यही दर्शन है और यहीं कवि का काव्य है । संस्कृति, धर्म, दर्शन और कवि कर्म—कविजी इन चार युगों के एक साथ युगावतार हैं—युगान्तरकारी हैं ।

युग-निर्माता :

उपाध्याय अमर मुनि जी के तेजस्वी व्यक्तित्व ने स्थानकवासी समाज में नव-युग का निर्माण किया है । उन्होंने समाज को नया विचार, नया कर्म और नयी वाणी दी है । जीवन एवं जगत् के प्रति सोचने और समझने का नया दृष्टिकोण दिया है । वस्तु-तत्व को परखने का समन्वयात्मक एक नया दृष्टि-बिन्दु दिया है । जिस युग में साधु-समाज और श्रावक-वर्ग पुराने थोकड़ों और सूत्रों के टब्बे से आगे नहीं बढ़ पा रहा था, कवि जी ने उस युग में समाज में प्रखर पाण्डित्य और प्रामाणिक साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा करके नये मानव के लिए नये युग का द्वार खोला । उपाध्याय जी ने नयी भाषा, नयी शैली और नयी अभिव्यक्ति से समाज को नया चिन्तन और नूतन-मनन करने की पावन प्रेरणा दी । अपने पुरातन सांस्कृतिक भण्डार से कवि जी ने अपनी प्रतिभा की शान पर चढ़ाकर, चमकाकर, विचार-रत्न जन-चेतना को प्रस्तुत किए । अपने युग के प्रत्येक विचार को कवि जी ने अपनी बुद्धि की तुला पर तोला । इसी आधार पर उपाध्याय अमर मुनि जी अपने युग के निर्माता हैं और युग-द्रष्टा भी हैं । वे स्थानकवासी समाज के सन्त हैं, साधक

हैं, विचारक हैं, लेखक हैं, कवि हैं, प्रवचनकार हैं, समालोचक हैं और साहित्यकार हैं । शब्दों की रचना उन्होंने की है, और साथ ही समाज की रचना भी । कवि जी का व्यक्तित्व इन्द्रधनुष की तरह बहुरंगी रहा है, तभी तो उसमें से विचारों की वह अद्‌भुत चमक और भावनाओं की दिव्य दमक प्रकट हो सकी है, जिससे समस्त समाज चमत्कृत हो गया है ।

समाज सुधारक :

कवि श्री जी क्या हैं ? ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय । विचार में आचार, और आचार में विचार । उन्होंने निर्मल एवं अगाध ज्ञान पाया, पर उसका अहंकार नहीं किया । उन्होंने महान् त्याग किया, पर त्याग करने का मोह उनके मन में नहीं था । उन्होंने तप किया, किन्तु उसका प्रचार नहीं किया । उन्होंने वैराग्य की उत्कट साधना की है, पर उसका प्रचार नहीं किया । अपने इन्हीं सद्‌गुणों के कारण आप श्रमण संस्कृति के व्याख्याकार, उद्‌गाता, सजग प्रहरी और सतेज नेता हैं । उनका सम्पूर्ण जीवन संघ-हित, संघ-विकास और संघ-शुद्धि के लिए ही है । वे संघ-हित के लिए और समाज के एकीकरण के लिए वे अपने स्वास्थ्य की भी चिंता नहीं करते ।

उपाध्याय अमर मुनि जी हमारे समाज के उन महापुरुषों में से एक हैं, जिन्होंने समाज के भविष्य को वर्तमान में ही अपनी भविष्यवाणी से साकार किया है । उन्होंने अपने जीवन की साधना से अतीत के अनुभवों का, वर्तमान के परिवर्तनों का और भविष्य की सुनहरी आशाओं का साक्षात्कार किया है ।

धर्म, दर्शन और संस्कृति की उन्होंने युगानुकूल व्याखया की है । उन्होंने कहा है, कि जो गल-सड़ गया हो, उसे फेंक दो और जो अच्छा है उसकी रक्षा करो । उनकी इस बात को सुनकर कुछ लोग धर्म के खतरे का नारा लगाते हैं । इसका अर्थ केवल इतना ही हो सकता है, कि उन लोगों का स्वार्थ खतरे में है, किन्तु धर्म तो स्वयं खतरों को दूर करने वाला अमर-तत्व है ।

व्यक्तित्व का विचार पक्ष :

कविजी के व्यक्तित्व का विचार-पक्ष बहुत ही शानदार है । वे हिमालय से ऊँचे हैं और सागर से भी गम्भीर । वे विचारों के ज्वालामुखी हैं, परन्तु हिम से भी अधिक शीतल । उनके विचारों में क्षणिक उत्तेजना नहीं, चिरस्थायी विवेक और गम्भीरता ही रहती है । जब किसी भी स्थिति पर वे विचार करते हैं, तब वस्तु के अन्तस्तल तक उनकी प्रतिभा सहज रूप में पहुँच जाती है । आज तक उनकी प्रतिभा और मेधा ने कभी उनके जीवन के साथ छलना नहीं की । सम्मुखस्थ व्यक्ति का तर्क जितना पैना होता है, कवि जी की बुद्धि उतनी ही प्रखर हो जाती

है । विचार-चर्चा में उनकी बुद्धि ने कभी हार स्वीकार नहीं की । कवि जी अथ से इति तक विचारमय हैं । विचार करना उनका सहज स्वभाव है ।

उपाध्याय अमर मुनि जी स्थानकवासी समाज के एक सजग, सचेत और सतेज विचारक सन्त हैं । वे कवि हैं, चिन्तक हैं, दार्शनिक हैं, साहित्यकार हैं और आलोचक भी । केवल शाब्दिक रचना के ही नहीं, किन्तु समाज, संस्कृति और धर्म के भी । उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से जिन सत्यों का साक्षात्कार किया, उनका खुलकर प्रयोग एवं प्रचार भी किया । वे सत्य को केवल पोथी और वाणी में ही नहीं, जीवन के धरातल पर देखना चाहते हैं । आकाश के चमकीले तारों की अपेक्षा धरती के महकते फूलों को कवि जी अधिक प्यार करते हैं । कवि जी क्रांतिकारी भी हैं, कवि जी सुधारक भी हैं और कवि जी पुराण-पंथी भी हैं । वे जीवन के नये रास्तों को स्वीकार करना चाहते हैं, और अगम्य तत्वों के प्रति कवि जी पूर्णतः श्रद्धा-शील हैं ।

व्यक्तित्व का आचार पक्ष :

कवि जी के व्यक्तित्व का आचार-पक्ष अत्यन्त समुज्ज्वल है । कवि जी का जीवन विचार और आचार की मधुर मिलन भूमि है । उनके विचार का अन्तिम बिन्दु है—विचार । विचार और आचार का सन्तुलित समन्वय ही वस्तुतः 'कवि जी' पद का वाच्यार्थ है । गम्भीर चिन्तन और प्रखर आचार कवि जी की जीवन-साधना का सार है ।

कवि जी के विचार में स्थानकवासी जैन धर्म का मौलिक आधार है—चैतन्य देव की आराधना और विशुद्ध चरित्र की साधना, साधक को जो कुछ भी पाना है, वह अपने से ही पाना है । विचार को आचार बनाना और आचार को विचार बनाना—यही साधना का मूल संलक्ष्य है ।

ज्ञानवान होने का सार है—संयमवान् होना । संयम का अर्थ है—अपने आप पर अपना नियंत्रण । यह नियंत्रण किसी के दबाव से नहीं, स्वतः सहज भाव में होना चाहिए । मानव जीवन में संयम व मर्यादा का बड़ा महत्त्व है । जब मनुष्य अपने आपको संयमित एवं मर्यादित रखने की कला हस्तगत कर लेता है, तब वह सच्चे अर्थ में ज्ञानी और संयमी बनता है ।

कवि जी का कहना है कि—"भौतिक भाव से हटकर अध्यात्म भाव में स्थिर हो जाना यही तो स्थानकवासी जैन धर्म का स्वस्थ और मंगलमय दृष्टिकोण कहा जा सकता है । आत्म-देव की आराधना के साधन भी अमर होने चाहिए । शाश्वत की साधना, शाश्वत से ही की जा सकती है ।"

विजय मुनि शास्त्री

❖

सूचनिका

धर्म-वीर सुदर्शन			
सर्ग एक	:	उपक्रम	१
सर्ग दो	:	स्वदेश-प्रेम	६
सर्ग तीन	:	अन्धकार के पार	१६
सर्ग चार	:	संकट का बीजारोपण	२३
सर्ग पाँच	:	अभया का कुचक्र	३८
सर्ग छह	:	वज्र-संकल्प	४८
सर्ग सात	:	अग्नि-परीक्षा	५४
सर्ग आठ	:	शूली के पथ पर	६५
सर्ग नौ	:	आदर्श पतिव्रता	८१
सर्ग दस	:	पौरजनों का प्रेम	९१
सर्ग ग्यारह	:	शूली से सिंहासन	९५
सर्ग बारह	:	आदर्श क्षमा	१११
सर्ग तेरह	:	अङ्गराष्ट्र का उत्थान	१२५
सर्ग चौदह	:	पूर्णता के पथ पर	१३७
सर्ग पन्द्रह	:	पूर्णता	१५०
सर्ग सोलह	:	उपसंहार	१५८
परिशिष्ट	:	चमकते मोती	१६१

सर्ग एक

उपक्रम

जगती ज्योति अखंड नित, सदाचार की यत्र;
यश, लक्ष्मी, सौभाग्य, सुख, रहते निश्चल तत्र !

मानव-भव का सार यही है,
सदाचार का अपनाना ।
पूर्णरूप से शुद्ध श्रेष्ठ,
आदर्श जगत में बन जाना ॥

वह मनुष्य क्या, सदाचार का,
तनिक न रस जिसको भाया ।
नर चोले में राक्षस - सा,
अधमाधम जीवन अपनाया ॥

सदाचार है पतित-पावनी,
गंगा की निर्मल धारा ।
पापाचार दैत्य-दल-दलनी,
चक्र सुदर्शन की धारा ॥

पंडित ज्ञानी बन जाने का,
यही सार बतलाया है ।
'तोता रटन' अन्यथा निष्फल,
शास्त्र-पठन कहलाया है ॥

अखिल धर्म के नेताओं ने,
महिमा इसकी है गाई ।
और इसी के बल पर सबने,
सर्वोत्तम पदवी पाई ॥

आओ, मित्रो ! चलें जहाँ पर,
सदाचार की झलक मिले ।
सदाचार - वेदी पर,
बलि होने का उच्चादर्श मिले ॥

सज्जनता की दुर्जनता पर,
विजय अखण्ड बतानी है ।
नर-जीवन भी देव-दैत्य-
द्वन्द्वों की एक कहानी है ॥

अंग देश में अति सुखद, चंपापुर अभिराम;
सभी भाँति समृद्धि से, शोभा अधिक ललाम ।

भारत में चंपा का भी,
क्या ही इतिहास पुराना है ।
लाख-लाख वर्षों का,
इसके पीछे ताना-बाना है ॥

देवराज-पूजित तीर्थंकर,
वासुपूज्य त्रिभुवन-स्वामी ।
चंपा में निज कर्म-बंध को,
तोड़ हुए शिवगति-गामी ॥

महावीर भगवान् स्वयं,
चंपा नगरी में आए थे ।

देव जन्म के क्या-क्या कारण,
गौतम को समझाए थे ॥

सती सुभद्रा के सतीत्व की,
चंपा में महिमा छाई ।
कच्चा सूत बाँध छलनी से,
नीर कूप से भर लाई ॥

चन्दन बाला के चरित्र की,
अति ही अद्‌भुत शैली है ।
जिसकी शील-सुरभि आज भी,
विश्व-गगन में फैली है ॥

चंपा में गुरु शिष्य सुधर्मा,
जम्बू के संवाद हुए ।
नानाविध आगम चर्चा के,
प्रश्नोत्तर साह्लाद हुए ॥

कामदेव से श्रावक-पुंगव,
यहीं विश्व-विख्यात हुए ।
सुर कृत अग्नि-परीक्षा में जो,
स्वर्ण-सदृश अवदात हुए ॥

सदाचार के अमित रत्नमणि,
चंपा में उद्‌भूत हुए ।
एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर,
चंपा के दिव्य सपूत हुए ॥

चंपा की मणि-माला में,
इक रत्न और जुड़ जाता है ।
वीर-'सुदर्शन' सेठ अलौकिक,
अपनी चमक दिखाता है ॥

स्नेह-मूर्ति था द्वेष, क्लेश का,
लेशमात्र था नाम नहीं ।
स्वप्नलोक में भी झगड़े-टंटे का,
था कुछ काम नहीं ॥

दीनों की सेवा करने में,
निश दिन तत्पर रहता था ।
नर-सेवा में नारायण-सेवा,
का तत्त्व समझता था ॥

भूला भटका दुःखी दीन,
जब कभी द्वार पर आता था ।
आश्वासन सत्कारपूर्ण
सस्नेह, यथोचित पाता था ॥

यौवन की आँधी में भी वह,
सदाचार का पक्का था ।
निज पत्नी के सिवा शुद्ध मन,
ब्रह्मचर्य में सच्चा था ॥

बाल्य-काल में श्रावक-व्रत के,
नियम गुरू से धारे थे ।
धारे क्या, अनुभव के बल,
निज अन्तर्मध्य उतारे थे ॥

न्याय-मार्ग से द्रव्य कमाकर,
न्याय - मार्ग में देता था ।
सकुशल जीवन-नैय्या अपनी,
भव-सागर में खेता था ॥

भाग्य योग से गृह-पत्नी भी,
थी 'मनोरमा' शीलवती ।
प्राणनाथ पति की छाया,
की भाँति निरन्तर अनुवर्ती ॥

दासी दास कुटुम्ब सभी,
नित रहते थे आज्ञाकारी ।
बोला करती थी अति ही
मृदु वाणी, सब जन-प्रियकारी ॥

देश, धर्म, जन-सेवा में नित,
पति का हाथ बँटाती थी ।
क्लेश, द्वेष, मात्सर्य, रूढ़ि के,
निकट नहीं क्षण जाती थी ॥

गृह-कार्यों में चतुर सुविदुषी,
देश काल का रखती ज्ञान ।
पर-पुरुषों को अन्तर-मति में,
पिता बन्धु-सम देती मान ॥

❖

सर्ग दो

स्वदेश - प्रेम

दम्पति प्रेमानन्द से, करते काल व्यतीत;
पूरी लय पर चल रहा, गृह-जीवन-संगीत ।
राज-पुरोहित श्री कपिल, बाल्यकाल के मित्र;
आए घर पर एक दिन, सरल स्नेह के चित्र ।

देख सुदर्शन श्रेष्ठि-वर्य ने,
झट उठ आदर मान दिया ।
अपने हाथों लगा प्रेम से,
वर ताम्बूल प्रदान किया ॥

अंग-अंग पुलकित था उमड़ा,
हर्ष न हृदय समाता था ।
मित्र मेघ के आने पर,
मन-मोर मुग्ध हो नाचा था ॥

भूमंडल में 'मित्र' शब्द,
भी कैसा जादू रखता है ।
स्नेह-सूत्र में दो हृदयों को,
अविकल बाँधे रखता है ॥

सच्चा मित्र वही जगत में,
सर्व-श्रेष्ठ कहलाया है ।

मैत्री के प्रण को जिसने,
'अथ' से 'इति' पूर्ण निभाया है ॥

दुग्ध और जल-सी अभिन्नता,
जरा दुई का नाम नहीं ।
प्रेम-पंथ में स्वार्थ हलाहल,
का तो कुछ भी काम नहीं ॥

पर्वत-सम अपने दुःख को,
जो सर्षप - जैसा गिनता है ।
किन्तु, मित्र-दुख सर्षप भर की,
गिरि से समता करता है ॥

जहाँ पसीना पड़े मित्र का,
अपना रक्त बहा डाले ।
झेले अनहद कष्ट स्वयं,
पर, सुखिया मित्र बना डाले ॥

दब्बू या खुदगर्जी बनकर,
अपना धर्म न खोने दे ।
और नहीं कर्तव्य-भ्रष्ट,
अपने मित्रों को होने दे ॥

हंत ! स्वर्ण-युग मित्रों का,
लद गया, घोर अंधेर हुआ ।
दोस्त नाम से दोषों का अब,
अटल राज्य चहुँ फेर हुआ ॥

समय के चक्र ने कैसा भयंकर फेर खाया है;
जगत में मित्रता के नाम पर अंधेर छाया है !

जहाँ चाँदी भवानी की छनाछन हो तिजोरी में;
वहाँ झट मित्र-दल ने आन दृढ़ आसन जमाया है !

कुपथ की ओर ले जाते, कराते सैर चकलों की;
सिवा रांडों व भांडों के न किस्सा अन्य भाया है !

पड़ीं जब आफतें भारी, फँसा हतभाग्य गर्दिश में;
बनी के यार सब भागे, न ढूँढ़े खोज पाया है !

सुबह बाजार में घूमे, परस्पर डाल गलबाहें;
दुपहरी में जो बिगड़ी शाम को डंडा दिखाया है !

जरा भी गुप्त कोई बात यदि निज मित्र की पाएँ;
करें बदनाम खुल्ला ढोल गलियों में बजाया है !

भलाई ऐसे मित्रों से 'अमर' क्या खाक होवेगी;
वचन-मन में कि जिनके रात्रि दिन-सा भेद पाया है !

क्षेम-कुशल इत्यादि की, बातें हुईं अनेक;
तदनन्तर दोनों चले, भ्रमण - हेतु सविवेक ।
मंद-सुगन्ध-समीर-युत, घूमे पुष्पाराम;
वापिस आते कपिल का, आया गृह अभिराम ।
कहा कपिल ने तब समुद, हुई भ्रमण में देर;
भोजन कर मेरे यहाँ, निजगृह जाना फेर ।
सेठ सुदर्शन ने करी, मित्राज्ञा स्वीकार;
आनाकानी हो कहाँ, जहाँ कि प्रेमाचार ।

भोजन से होकर निवृत्त,
निज राष्ट्र - चिन्तना करते हैं ।
शान्त कान्त एकान्त भवन में,
गुप्त - मंत्रणा करते हैं ॥

कहा सेठ ने— कपिल ! तुम्हें कुछ,
अपने पुर का भी है ध्यान ।
अत्याचार-ग्रस्त पुर-वासी,
निर्बल जनता का कुछ भान ॥

नैतिक वातावरण नगर का,
दूषित होता जाता है ।
भ्रष्टाचारी युवक - वर्ग,
पतनोन्मुख होता जाता है ॥

द्यूत, मद्य और वेश्याओं के,
आलय सब आबाद हुए ।
हंत ! खेद है धर्माचारी,
गृह - वासी बर्बाद हुए ॥

दीन प्रजा के नौनिहाल,
शिक्षा दीक्षा कब पाते हैं ?
मूढ़ अशिक्षित रहने से,
फँस दुराचार में जाते हैं ॥

प्रजा-पतन का मूल हेतु,
राजा का व्यसनी होना है ।
राज-धर्म से च्युत होकर,
विषयासव पीकर सोना है ॥

न्याय भवन में न्याय कहाँ,
अब दौर मद्य के चलते हैं ।
द्यूत खेलने में निश दिन,
सोने के पासे ढलते हैं ॥

न्यायालय में एक भाव से,
गीले सूखे जलते हैं।
रिश्वत खा-खाकर अधिकारी,
न्याय - नाम पर पलते हैं॥

प्रजा-कष्ट-कर नित्य नए,
जालिम फर्मान निकलते हैं।
कर-भारों से दीन-हीन,
श्रमजीवी रो-रो घुलते हैं॥

बैठ वशिष्ठासन पर कब तुम,
अपना फर्ज बजाते हो।
राज्य-शान्ति का व्यर्थ ढोंग,
माला - जप में बतलाते हो॥

'त्राहि-त्राहि' कर प्रजा दुःख से,
जब विद्रोह मचाएगी।
शान्ति-पाठ की शान्ति तुम्हारी,
तब क्या ढाल अड़ाएगी॥

बुद्धि-भ्रष्ट नृप को समझाने,
का तो है अधिकार तुम्हें।
जी हुजूर होने पर मिलता,
प्रेत्य नरक का द्वार तुम्हें॥

तुम्हें भले ही लक्ष्य न हो,
पर, मैं तो अपनी कहता हूँ।
रात्रि-दिवस अन्दर ही अन्दर,
चिन्तानल में दहता हूँ॥

जब-जब मैं इस पतन-चित्र को,
बुद्धि - क्षेत्र में लाता हूँ ।
दुःख-सिन्धु में बह जाता हूँ,
रोता रात बिताता हूँ ॥

बह चली सुदर्शन के नेत्रों से,
अविरल आँसू की धारा ।
बोल न सके और कुछ आगे,
रुँधी शेष वाणी - धारा ॥

मर्माहत हो मित्र पुरोहितजी,
भी गद्‌गद स्वर बोले ।
राज-भवन के भेद गुप्त-तम,
साफ-साफ सब कुछ खोले ॥

"मित्र ! तुम्हारा कथन सत्य है,
किन्तु न मम वश चलता है ।
एक-मात्र अभया रानी का,
शासन निर्मम चलता है ॥

अधिकारी अपनी इच्छा से,
रखती और हटाती है ।
आज सिंहासन बैठाती है,
कल फाँसी लटकाती है ॥

अपने राजा दधिवाहन तो,
अन्तःपुर की तितली हैं ।
रूपगर्विता अभया के,
हाथों की कठ-पुतली हैं ॥

सांकेतिक मधु भाषा में तो,
बहुत बार है समझाया !
कटु औषधि के बिना पूर्ण फल,
किन्तु कहाँ किसने पाया ?

अधिकारी होने के नाते,
नहीं अधिक कुछ कह सकता।
'धक्के खाऊँ, फाँसी पाऊँ',
यह आतंक न सह सकता ॥

आप नगर के उप-राजा हैं,
राजा को जाकर समझाएँ ।
संभव है, यदि आप कहेंगे,
तो कुछ पथ पर आजाएँ ॥

जैसा भी कुछ हूँ कि तुम्हारे,
स्वर में मैं भी बोलूँगा।
कड़वी-मीठी कह सुनकर,
राजा के श्रुतिपट खोलूँगा ॥"

युगल मित्र मिलकर चले, राजा के दरबार;
राजा ने भी प्रेम से, किया उचित सत्कार ।
हाथ जोड़ कर सेठ ने, रक्खा निज प्रस्ताव;
खोल खोल कर स्पष्टतः, समझाया सब भाव ।

देव ! आजकल पता नहीं कुछ,
किस विचार में बहते हो ?
राज्य-कार्य सब छोड़ अलग-सी,
किस दुनियाँ में रहते हो ?

अन्यायी अधिकारी-गण ने प्रजा,
त्रस्त कर रक्खी है ।
तात ! तुम्हारी सन्तति की,
मिट्टी पलीद कर रक्खी है ॥

दीन प्रजा-जन कैसे-कैसे,
जोर जुल्म नित सहते हैं ।
चम्पापुर में हास्य कहाँ,
आँसू के निर्झर बहते हैं ॥

वैभव की सुख-निद्रा तज,
कुछ प्रजा-श्रेय भी करिएगा ।
क्षणभंगुर दुनियाँ में स्वामी !
अमर सुयश कुछ गहिएगा ॥

धनाभाव से यदि शिक्षादिक,
प्रजाहित न बन सकता है ?
तो अपना भंडार दास,
श्री चरणों में धर सकता है ॥

कौड़ी-कौड़ी पैसा-पैसा,
प्रजाहितार्थ लुटा दूँगा ।
स्वामी जहाँ खड़ा कर देंगे,
वहाँ से पद न हटाऊँगा ॥

राजा वही जो राष्ट्र की सेवा बजाता है;
'स्वामी अहं' का भाव सपने में न लाता है ।

अणु मात्र भी पाता व्यथा अपनी प्रजा में गर;
पड़ती जरा न कल, सदा आँसू बहाता है ।

मस्तक में राष्ट्रोत्थान की ही कल्पना घूमें;
अपने निजी सुख-भोग पर ठोकर लगाता है।

परमात्मा या देवता समझे प्रजा को ही;
और तो क्या, रक्षणा-हित प्राण की बलि भी चढ़ाता है।

सम्बन्ध राजा और प्रजा का है पिता सुत-सा;
जग में 'अमर' है वह जो आजीवन निभाता है।

उक्त कथन का पंडित ने भी,
किया समर्थन समझा कर।
दर्शाये सब भाव हृदय के,
बड़ी नम्रता दिखलाकर॥

राजा ने भी राष्ट्र-हितों की,
रक्षा का सम्मान किया।
दब्बू या संकोचीपन से नहीं,
क्रोध अभिमान किया॥

ऊपर मृदुता, किन्तु चित के,
अन्दर कटुता भारी है।
सेठ सुदर्शन के प्रति अति ही,
घृणा भावना धारी है॥

सोचा—"वणिक, सुगुरु बन मुझको,
शिक्षा देने आया है।
स्यार सिंह के कान उमेठे,
कैसा कलियुग छाया है॥

मैं अवश्य इस गुस्ताखी का,
इक दिन मजा चखाऊँगा।

अवसर मिलने पर पाजी को,
कारागृह दिखलाऊँगा ॥"

कर प्रणाम राज को दोनों,
मित्र सहर्षित चले तुरंत ।
राजनीति में उलट-फेर की,
बातें नाना भाँति करंत ॥

राजा भी महलों में पहुँचा,
क्रूर, कुटिल अति ही क्रोधान्ध ।
दैव-दोष से बन जाते हैं,
चतुर विचक्षण भी प्रज्ञान्ध ॥

❖

सर्ग तीन

अन्धकार के पार

आओ, अब घर कपिल के, चलें वहाँ क्या हाल;
बैठी कपिला ब्राह्मणी, शोकाकुल बेहाल ।
भोजन गृह में सेठ का, देखा रूप रसाल;
कामानल की हृदय में, ज्वाला उठी कराल ।

देखा जब से सेठ सुदर्शन,
कपिला सुध-बुध भूल गई ।
भोग-वासना के विषधर से,
झूले पर ही झूल गई ॥

लोक-लाज कुल-मर्यादा का,
कुछ भी नहीं खयाल रहा ।
रात दिवस अन्दर-ही-अन्दर,
शल्य विरह का साल रहा ॥

हर समय सेठ से मिलने की,
ही चिन्ता में वह रहती है ।
अन्तरंग दासी से अपना,
भेद साफ सब कहती है ॥

"देखा चंपा ! तूने जग में,
सुन्दर ऐसे होते हैं ।

दर्शन-भर से ही मन में जो,
बीज प्रेम का बोते हैं ॥

रूप-माधुरीयुत पुरुषों में,
वे ही एक नगीने हैं ।
पंडितजी तो उनके आगे,
लगते साफ कमीने हैं ॥

जीवन धन्य तभी यह होगा,
जब तू उन्हें मिला देगी ।
देख, अन्यथा मुझे मौत के,
घाट उतरते देखेगी ॥"

ऊँच नीच बहुत-सी बातें,
दासी ने सब समझाईं ।
काम-विह्वला कपिला के पर,
एक न मस्तक में आई ॥

अस्तु, एक दिन कपिल पुरोहित,
ग्रामान्तर के कार्य गए ।
अनायास ही कपिला के भी,
मनचीते सब कार्य भए ॥

दासी दौड़ी गई सेठ-घर,
अविरल अश्रु बहाती है ।
बोलो अलग सुदर्शन से,
यों अन्तर कपट छुपाती है ॥

"सेठ ! तुम्हारे मित्र कपिल,
हा ! बहुत सख्त बीमार पड़े ।
जीवन की अन्तिम घड़ियाँ हैं,
शैय्या पर लाचार पड़े ॥

बड़ी वेदना है, मछली के तुल्य,
तड़फते रहते हैं ।
जब भी आता होश क्षणिक,
तब 'मित्र सुदर्शन' कहते हैं ॥

मित्र वेदना सुनते-सुनते,
आँख सेठ की भर आई ।
सोचा—प्रभो ! अचानक यह,
क्या संकट की घटना आई ॥

प्रजाकार्य प्रारंभ अभी तक,
नहीं सफल समतोल हुआ ।
मध्य-धार में सहयोगी का,
जीवन डाँवा - डोल हुआ ॥

धोखा देकर मुझे अचानक,
मित्र ! छोड़ क्या जाएगा ?
तुझ-सा स्नेही अन्य कहाँ से,
मेरा मानस पाएगा ?"

गए सुदर्शन दौड़ कर कपिल-गेह तत्काल;
उन्हें पता क्या था वहाँ, बिछा हुआ है जाल ।
मित्र ! मित्र !! कहते घुसे, ज्यों ही शयनागार;
त्यों ही दासी ने जड़ा, ताला झट से द्वार ।

कामयंत्रणा-विकल कामिनी,
सुख-शय्या पर पौढ़ी थी ।
पूर्णतया सब ओर दबाकर,
लम्बी चादर ओढ़ी थी ॥

दबे साँस से पुरुष-स्वर में,
गहरी आहें भरती थी।
ज्वर-रोगी सी दशा बनाए,
सिसक-सिसक कर रोती थी॥

"कहो, मित्र ! क्या हाल,"
सेठ यों पास बैठ बतलाता है।
नाड़ी-दर्शन-हेतु हाथ,
चादर में शीघ्र बढ़ाता है॥

कंकण-भूषित कर छूते ही,
भेद समझ में आया है।
मित्र वित्र कुछ नहीं,
मित्र-पत्नी की सारी माया है॥

पीछे से मुड़कर देखा तो,
बंद द्वार - पट पाया है।
कपिला ने भी इतने में,
प्रच्छादन परे हटाया है॥

लाज-शर्म सब छोड़ सेठ का,
हाथ जोर से पकड़ लिया।
हाव-भाव के साथ मनोगत,
संकल्पों को व्यक्त किया॥

"प्राणनाथ ! मम चित्त आपने,
क्यों पागल कर रक्खा है ?
दर्शन देकर काम-ज्वर से,
ग्रस्त विकल कर रक्खा है॥

समझाया दिल को बहुतेरा,
जरा नहीं कल पड़ती है।

ज्यों-ज्यों दाबूँ विरह-वेदना,
त्यों-त्यों अधिक उभड़ती है ॥

सेवा में दासी का सब कुछ,
तन - मन अर्पण है, लीजे ।
निःसंकोच भाव से खुलकर,
पूर्ण स्व - मन - इच्छा कीजे ॥"

देख सेठ ने विकट परिस्थिति,
किया हृदय में आलोचन ।
"काम-विह्वला-नारी को,
किस भाँति करूँ अब उद्‌बोधन ॥

चाहे कैसा ही समझाऊँ,
नहीं समझती दिखती है ।
ज्यादह अगर रहा यहाँ पर,
तो विकृति बढ़ती दिखती है ॥"

शीघ्र-सोच कर बोले—"भद्रे !
मैं क्या अपनी बतलाऊँ ?
लज्जा अड़ी खड़ी है सम्मुख,
गुप्त भेद क्या समझाऊँ ॥

परमेश्वर ने मेरे प्रति तो,
बड़ा विकट अन्याय किया ।
सुन्दरता दी, किन्तु खेद है,
नहीं मुझे पुरुषत्व दिया ॥

मैंने मात्र देखने भर को,
ऊपर नर - तन धारा है ।
अन्दर से नामर्द जन्म का,
दैव बड़ा हत्यारा है ॥

लज्जा-कारण अब तक मैंने,
निज कलीबत्व छिपाया है।
भद्रे ! तुम न किसी से कहना,
आज भेद खुल पाया है ॥"

इतना सुनते ही कपिला तो,
बदहवास हो शरमाई।
अपनी भोग-मूढ़ता पर,
अन्दर ही अन्दर पछताई ॥

"नहीं बना कुछ कार्य,
व्यर्थ ही परदाफाश हुआ मेरा।
हाय ! वासना तूने मुझको,
अन्धकूप में ला गेरा ॥

पीतल कोरा निकला जिसको,
मैंने कंचन समझा था।
गंध-हीन किंशुक को पाटल,
पुष्प विमोहन समझा था ॥"

"चंपा ! खड़ी देखती क्या है ?
खोल झपट कर दरवाजा।
बाहर काढ़ पाप को निकला,
कोरा हिजड़ों का राजा ॥"

"भद्रे ! क्यों घबराती तुम हो ?
मैं तो खुद ही जाता हूँ।
वृथा कष्ट यह हुआ आपको,
इसकी माफी चाहता हूँ ॥"

कपिला दिल में घबराई,
फिर हाथ जोड़कर यों बोली।

"कृपा करें, न किसी से कहना,
बात जोकि मैंने खोली ॥"

कहा सेठ ने "मेरी भी यह,
गुप्त बात नहीं कहना ।
दोनों की बातों का अच्छा,
दोनों तक सीमित रहना ॥"

सेठ और कपिला दोनों ने,
वचन-बद्धता की स्वीकार ।
दासी ने भी खोला झट-पट,
दरवाजा आज्ञा अनुसार ॥

द्वार खुला तो सेठ सुदर्शन,
शीघ्र निकल बाहर आए ।
सहा घोर अपमान किन्तु,
निज - धर्म बचाकर हर्षाए ॥

घर आते ही किया महाप्रण,
निज मन में धर भव्य विराग ।
'महिलाऽऽमंत्रण से पर-घर पर,
एकाकी जाने का त्याग ॥"

शान्तिपूर्ण गृह-स्वर्ग लोक में,
ठने न कटुता का व्यवहार ।
कहा सेठ ने नहीं मित्र से,
कपिला का कुछ भी कुविचार ॥

सागर-सम गंभीर,
सज्जनों का होता है अन्तस्तल ।
पी जाते हैं विष भी मधु-सम,
चित्त नहीं करते चंचल ॥

सर्ग चार

संकट का बीजारोपण

प्रकृति-क्षेत्र में अवतरित हुआ सुरम्य वसंत;
किन्तु सुदर्शन के लिए लाया उग्र उदंत ।।

रंग-मंच पर प्रकृति नटी के,
परिवर्तन नित होते हैं ।
अच्छे और बुरे नानाविध,
दृश्य दृष्टिगत होते हैं ॥

पतन और उत्थान यथाक्रम,
आते जाते रहते हैं ।
क्षण-भंगुर संसृति का,
रेखा-चित्र खींचते रहते हैं ॥

जीवन में सुख-दुःखादिक का,
चक्र निरन्तर फिरता है ।
मानव-पद के गुण-गौरव का,
सफल परीक्षण करता है ॥

संकट की घन-घटा सेठ पर,
भी अब छाने वाली है ।
धैर्य, धर्म की अग्नि परीक्षा,
उत्कट होने वाली है ॥

स्वीकृत प्रण की मर्यादा को,
सेठ अखण्ड बचाएगा ।
अखिल जगत में सत्य सुयश का,
दुन्दुभि - नाद बजाएगा ॥

शीतानन्तर ठाट-बाठ से ऋतु,
वसन्त फिर आया है ।
मन्द सुगन्धित मलय पवन भी
मादकता भर लाया है ॥

वन-उपवन के सभी द्रुमों पर,
गहरी हरियाली छाई ।
रम्य हरित परिधान पहनकर,
प्रकृति सुन्दरी मुसकाई ॥

रंग-बिरंगे पुष्पों से तरु,
लता सभी आच्छादित हैं ।
भ्रमर-निकर झंकार रहे,
वन, उपवन सभी सुगन्धित हैं ॥

कोकिल-कुल स्वच्छन्द रूप से,
आम्र - मंजरी खाते हैं ।
जन-मन-मोहक मादक पंचम,
राग मधुर-स्वर गाते हैं ॥

अखिल सृष्टि के कण-कण में,
नव यौवन का रंग छाया है ।
और साथ ही जन-हितकारी,
भव्य प्रेरणा लाया है ॥

शिक्षा दे रहा है, जग को, ऋतु बसन्त हितकारी !

वृक्षों ने पतझड़ में पहले त्यागी सुषमा सारी;
नयनाकर्षक शोभा के फिर बने शीघ्र अधिकारी।

फूलों-जैसा जीवन रचिए, बनिए पर-उपकारी;
निर्दय हाथ तोड़ते फिर भी उन्हें सुरभि दें भारी।

आम्र-मंजरी खाकर कोयल बोले वाणी प्यारी;
सन्तों के वचनामृत पीकर बनो सरस गुण-धारी ।

सद्गुणशाली सज्जन जो भी मिल जाएँ अविकारी;
सुरभित सुमनों पर मधुकर-सम रखो भाव प्रिय-कारी ।

पुष्पफलान्वित तरु-शाखाएँ झुकतीं नम्र विचारी;
'अमर' बड़प्पन पाकर सीखो झुकना सब नर-नारी ।

भारत में प्राचीन काल से,
प्रथा चली यह आती है ।
आये वर्ष वसन्तोत्सव में,
वन - क्रीड़ा की जाती है ॥

चंपा-वासी नर-नारी भी,
समुद वसन्त मनाते हैं ।
पुष्पारामों में नानाविध,
उत्सव रुचिर रचाते हैं ॥

सघन कुंज में कोकिल-कंठी,
बाला मधु बरसाती हैं ।
मंजुल गायन गाती हैं,
वीणादि सुवाद्य बजाती हैं ॥

बड़े प्रेम से प्रीति-भोज,
सब मित्र परस्पर करते हैं।
वन उपवन में यत्र-तत्र,
सानन्द घूमते फिरते हैं ॥

सेठ सुदर्शन की पत्नी भी,
चली वसंत मनाने को।
स्वर्गाङ्गण-सी वन-स्थली में,
यात्रानन्द उठाने को ॥

वस्त्राभूषण से सज्जित हो,
स्वर्णयान में बैठी यों।
मधुऋतु-दर्शन-हेतु अप्सरा,
स्वर्ग - लोक से उतरी ज्यों ॥

आस-पास में सखी-वृन्द,
संगीत वसंती गाता था।
मातृ-गोद में पुत्र-युगल भी,
शोभा अभिनव पाता था ॥

आया रथ चलता हुआ, राजमहल के पास,
रानी अभया गोख में, बैठी थी सविलास।
आस-पास में था जुड़ा, सखियों का परिवार,
बैठी थी कपिला वहीं, कपिल-पुरोहित नार।
देखी सती मनोरमा, देखे सुत सुकुमार,
रानी अति विस्मित हुई, चौंकी चित्त मँझार।

"देवी है, सच-मुच यह तो,
रूप गवाही देता है।

आँखों में सौन्दर्य सुधा से,
ठंडक-सी भर देता है ॥

देखा ऐसा रूप आज तक,
नहीं किसी भी नारी का ।
स्वर्ण-मूर्ति सी राज रही,
कुछ पार नहीं छवि प्यारी का ॥

चन्द्र-बिम्ब-सम मुख-मंडल पर,
दिव्य मधुरिमा टपक रही ।
अंग-अंग पर ललित लुनाई,
सुघड़ाई है झलक रही ॥

अहा, इधर भी अजब-गजब की,
मनमोहक छवि छाई है ।
बाल-युगल में अखिल विश्व की,
रूप - राशि भर आई है ॥

कैसी सुन्दर अभिनव जोड़ी,
सूर्य-चन्द्र - सी लगती है ।
जग-प्रसिद्ध नल-कूबर की,
जोड़ी-सी असली लगती है ॥

तप्त स्वर्ण-सा कान्तिमान,
तन पूर्णतया है गठा हुआ ।
मन्दहास्य-युत आनन है,
अरविन्द कमल-सा खिला हुआ ॥

बाल्य काल की प्रकृति-चपलता,
रंग में रंग बरसाती है ।
रूप-राशि में अपनी कुछ,
अभिनव ही छटा दिखाती है ॥

जब कि पुत्र ही ऐसे हैं तो,
पिता न जाने क्या होगा ?
वह तो सचमुच कामदेव ही,
मानव - तनु - धारी होगा ॥

रंभा ! अगर जानती है,
तो बता कौन यह नारी है ?
और फूल से इन पुत्रों का,
कौन पिता सुखकारी है ॥"

दासी रंभा बड़े गर्व से
बोली "क्यों न जानती हूँ ?
चम्पा-वासी सेठों को मैं,
भली - भाँति पहचानती हूँ ॥

विज्ञ सुदर्शन सेठ हमारा,
नगर - सेठ कहलाता है ।
चम्पापुर का जो कि दूसरा,
राजा माना जाता है ॥

वैभव का कुछ पार नहीं,
दिन रात वित्त का नद बहता ।
दीनबन्धु है, पर उपकारी,
पर-दुख में ही दुख सहता ॥

कहूँ रूप के वर्णन में क्या,
सुन्दरता का पुतला है ।
मेरी आँखों से तो अब तक,
रूप न ऐसा निकला है ॥

जैन धर्म का पालन,
करने वाला दृढ़ विश्वासी है ।

त्यागी है, बैरागी है,
घर बैठा भी संन्यासी है ॥

रानीजी, यह सती मनोरमा,
उस ही की सेठानी है ।
पुत्र-रत्न की जुगल जोड़ी भी,
उस ही की लासानी है ॥"

सुनते ही इतना कपिला तो,
चौंक एकदम उछल पड़ी ।
झूठ ! झूठ ! कहकर दासी पर,
जोर से उबल पड़ी ॥

"रंभा ! क्यों तू बिना बात की,
झूठी गप्प लड़ाती है ।
लाज न आती है तुझको,
जो माया-जाल बिछाती है ॥

और जगह क्या खाक टलेगी,
रानी को बहकाती है ।
सेठ सुदर्शन के जो दो-दो,
पुत्र - रत्न बतलाती है ॥

सेठ बिचारा जन्मकाल से,
है हिजड़ा अति दुखियारा ।
कैसे हो सकता हिजड़े-घर,
पुत्र-रत्न का उजियारा ॥"

रंभा बोली "मिसराइन !
फिरती हो किसकी बहकाई ।
झूठा दोष लगाते तुमको,
तनिक नहीं लज्जा आई ॥

पूर्ण सत्य है, अटल सत्य है,
जो कुछ भी मैं कहती हूँ ।
चम्पा का बच्चा-बच्चा जो,
कहता है, वह कहती हूँ ॥

महलों में बन्दी-जीवन-सम,
अपना जन्म गँवाती हो ।
कौन मर्द है, कौन हीजड़ा ?
भेद कहाँ से पाती हो ?"

बोली कपिला बड़े गर्व से,
मैं भी सच्ची कहती हूँ ।
सेठ सुदर्शन हिजड़ा ही है,
कहती हूँ फिर कहती हूँ ॥

गुप्त बात है यह अवश्य,
पर मुझसे क्या यह छानी है ।
महलों के अन्दर भी मैंने,
स्वयं सत्यता जानी है ॥

बड़ा दुष्ट है, धन के बल पर,
इस नारी से ब्याह किया ।
हा ! मनोरमा-सी देवी को,
मझधारा में डुबो दिया ॥

क्या करती, बेचारी आखिर,
जारज ये अंग - जात हुए ।
अंदर की है कौन जानता,
सेठ - पुत्र विख्यात हुए ॥"

कहना था इतना कपिला का,
रंभा का मुख लाल हुआ ।

नहीं क्रोध का पार रहा,
तन-मन में इक भूचाल हुआ ॥

"लाज शर्म कुछ तो रखिएगा,
नहीं बेहया बनिएगा ।
सत्यवती सेठानी जी पर,
व्यर्थ कलंक न धरिएगा ॥

शील धर्म भी दुनियाँ में है,
कुछ तो श्रद्धा रखिएगा ।
अपने-जैसी ही सब जग की,
महिलाएँ न समझिएगा ॥"

बातों-बातों में बढ़ी, दोनों में तकरार,
व्यर्थ क्लेश के कार्य में, फँसता यों संसार ।
अभया रानी ले गई, कपिला को एकान्त;
स्पष्टतया पूछा सभी, बीता सब वृत्तान्त ।

कैसी बाते हैं सारी बतादे सखी !
जैसी बीती हो वैसी सुनादे सखी !

प्रेम से जब दो हृदय मिलते वहाँ क्या भेद है,
भेद होता है जहाँ, बस प्रेम का उच्छेद है;
पर्दा दिल से दुई का हटादे सखी !

हीजड़ा क्यों कर भला तू सेठ को है जानती,
जबकि दुनिया पुत्र वाला स्पष्ट उस को मानती;
असली अन्दर का भेद बतादे सखी !

रंभा और तेरे कथन में रात-दिन का फर्क है,
जान लूँ सच झूठ क्या है, बस यही मम तर्क है;
भारी उलझन है, तू सुलझा दे सखी !

कैसे अन्दर का भेद बताऊँ सखी !
लज्जा आती है कैसे सुनाऊँ सखी !

क्या कहूँ, क्या ना कहूँ, दिल में बड़ा संकोच है,
व्यर्थ के झगड़े में पड़ जाने का अति ही सोच है;
कैसे लज्जा का पर्दा हटाऊँ सखी !

प्रेम कहता है, हृदय के भाव सारे खोल दूँ,
बुद्धि कहती, जुल्म हो जाएगा गर सच बोल दूँ;
कैसे अपयश का दाग लगाऊँ सखी !

खास घटना मेरे जीवन में बनी है, क्या कहूँ,
क्या करेंगी पूछ कर, बस आज तो माफी चहूँ;
मैं ना चाहूँ कि बात बढ़ाऊँ सखी !

रानी बोली प्रेमाग्रह से,
"कपिला ! क्यों घबराती है ?
आगे कदम बढ़ा कर अब,
फिर पीछे क्यों खिसकाती है ?

बातों ही बातों में आधा,
गुप्त तत्त्व तो व्यक्त हुआ ।
क्यों न साफ कहती निज मुख से,
शेष घटित जो वृत्त हुआ ॥

लेश मात्र भी अब तक मैंने,
तुझसे भेद न रक्खा है ।
दो देहों में एक प्राण का,
स्वर झंकृत कर रक्खा है ॥

जो तू बात कहेगी मुझसे,
कभी न बाहर जाएगी ।

कानों से सुन कर के अभया,
नहीं जीभ पर लाएगी ॥

जो स्नेही की गुप्त बात को,
गुड्डा बाँध उड़ाते हैं ।
वे जाहिल, मक्कार नरक में,
लाखों धक्के खाते हैं ॥

रानी के प्रण से कपिला के,
मन में साहस भर आया ।
अन्तर में चिर रुद्ध पाप का,
स्रोत उमड़ मुख पर आया ॥

साफ-साफ अथ से इति यावत,
पाप कहानी कह डाली ।
पापिन ने इक और पाप की,
नींव महा भीषण डाली ॥

कथा-पूर्ति में कपिला ने जब,
हिजड़ेपन का न्यास किया ।
रानी ने तब करतल ध्वनि के,
साथ विकट उपहास किया ॥

"भूल गई सारी चतुराई,
कपिला ! तू तो भूल गई ।
वैश्य-पुत्र के सम्मुख,
ब्राह्मण-जाति हेकड़ी भूल गई ॥

सेठ साफ बच गया चाल से,
धूल झोंक दी आँखों में ।
ज्ञात हुआ वह बनिया भी है,
चतुर एक ही लाखों में ॥

दासी का कहना सच्चा है,
न है वस्तुतः वह हिजड़ा ।
शील धर्म की रक्षा के हित,
मार्ग झूँठ का था पकड़ा ॥

महाशक्ति का जग में नारी,
दृढ़ अवतार कहाती है ।
अखिल सृष्टि के पुरुषों को,
मन-चाहा नाच नचाती है ॥

आती है जब अपने पर,
तो ऐसा जाल बिछाती है ।
मानव तो क्या, देवों तक की,
बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है ॥

वणिक-पुत्र भी नहीं फँसाया,
गया जाल में हा तुझसे ?
विश्व-मोहिनी ललनाओं का,
डूबा गौरव हा तुझसे ॥

नहीं बन सका कार्य, व्यर्थ ही,
तूने लाज गँवाई है ।
वणिक-चक्र में उलझ गई,
बदनामी बुरी कमाई है ॥

माल मुफ्त का मरे गलों का,
बड़ी मौज से खाती है ।
दान-पुण्य के भोजन से,
जीवन निस्तेज बनाती है ॥"

स्वाभिमान कपिला का इतना,
सुनकर सहसा चटक उठा ।
बोली अभया से तन मन में,
रोष हुताशन भड़क उठा ॥

"रानी जी ! निज चतुराई पर,
अभी न इनता इतराएँ ।
ताने मार-मार कर मत यों,
दीन ब्राह्मणी कलपाएँ ॥

मैं विमूढ़ हूँ, मेरे वश में,
नहीं पुरुष हो सकते हैं ।
किन्तु आपके चरणों में तो,
सुर भी नत हो सकते हैं ॥

अगर शक्ति है, मुझको भी,
कुछ चमत्कार दिखला दीजे ।
सेठ सुदर्शन को वश में कर,
मेरा भी बदला लीजे ॥

क्षत्राणी उस दिन ही मैं भी,
तुमको असली समझूँगी ।
हृदयहीन को जब कि तुम्हारा,
प्रेम - भिखारी देखूँगी ॥

नारी-जग की लाज कृपा,
करके अब तुम ही रखिएगा ।
अभिमानी धर्मान्ध सेठ को,
शीघ्र पराजित करिएगा ॥"

रानी अभया ने सुने कपिला के उद्‌गार,
रोम रोम में गर्व की गूँज उठी झनकार ।
संकट के काले कुदिन आते हैं जिस बार,
छा जाता है बुद्धि पर घोर घुप्प अँधकार ।
मन्द हास्य हँस प्रेम से बोली साहंकार,
कपिला को देने लगी मीठी सी फटकार ।

"क्या कहूँ मैं कपिला ! तुझको,
भ्रम में भूली फिरती है ।
रानी अभया को अपने मन में,
तू कुछ न समझती है ॥

अखिल राष्ट्र में पूर्णतया,
मेरा ही शासन चलता है ।
टल सकता है हुक्म भूप का,
पर मेरा कब टलता है ॥

चमत्कार देखेगी ? अच्छा,
तुझे अभी दिखला दूँगी ।
सेठ सुदर्शन को निज पद-कमलों,
का भ्रमर बना दूँगी ॥

जादू डाल रूप का निज,
मन-चाहा नाच नचाऊँगी ।
मक्कारी सब भुला काठ का,
उल्लू उसे बनाऊँगी ॥

अगर आज का प्रण मैं अपना,
पूर्ण नहीं कर पाऊँगी ।

सौ बातों की बात तुझे,
फिर अपना मुख न दिखाऊँगी ॥

तदनन्तर झट नमस्कार कर,
कपिला ने प्रस्थान किया ।
रानी ने भी इधर शीघ्र ही,
रंभा का आह्वान किया ॥

❖

सर्ग पाँच

अभया का कुचक्र

अभया अपने आप ही, करती है क्या काम,
होती है मति अति विकल, होता जब विधि वाम।

"रंभा ! तेरी चतुराई की,
आज परीक्षा होनी है ।
अन्तर्मन की विरह वेदना,
सखी ! तुझे ही खोनी है ॥

सेठ सुदर्शन की रूपच्छवि,
मोहक हृदय समाई है ।
कैसे मिलूँ, करूँ क्या, तन की,
मन की सुध बिसराई है ॥

एक बार सेठ को कैसे भी,
हो यहाँ लाना होगा ।
चाहे कुछ हो, पार मनोरथ-
सागर के जाना होगा ॥

कोई चाल चला ऐसी,
जो कार्य शीघ्र ही बन जाए ।
और साथ ही इस छल-बल,
का भेद नहीं खुलने पाए ॥"

रानी की यह सुनी जहर से,
भरी बात तो चौंक पड़ी ।
भूल गई सुध बुध सब,
सहसा बिजली जैसे शीश पड़ी ॥

हाथ जोड़कर विनय भाव से,
बोली रंभा दृढ़ता धार ।
स्पष्ट रूप से कहे, स्वयं के,
मन के जो थे शुद्ध विचार ॥

राज-रानी ! क्या समाई आज दिन !
बात गंदी क्या सुनाई आज दिन !

आप तो विदुषी बड़ी धीमान हो,
सोचिए, ऐसा कि जग-सम्मान हो;
लोक-लज्जा क्यों हटाई आज दिन !

शील में आदर्श हैं हम को तुम्हीं,
मूर्ति हैं प्रत्यक्ष पतिव्रत की तुम्हीं;
क्यों सहज शुचिता गँवाई आज दिन !

सेठजी हैं धर्म पर अपने अटल,
मन्दराचल-तुल्य हैं मन से अचल;
शील की धूनी रमाई आज दिन !

लाख कीजे यत्न डिगने की नहीं,
प्राण देगा, धर्म तजने का नहीं·
व्यर्थ क्यों करती हँसाई आज दिन !

भूप सुन पाएँ, करें मिट्टी खराब,
प्राण शूली पर चढ़ें, क्या है बचाव,
बात बेढंगी उठाई आज दिन !

काम यह मुझसे कभी होगा नहीं,
साफ कहती हूँ, जरा धोखा नहीं;
जुल्म से चाहूँ रिहाई आज दिन !

मानवी चोला मिला सत्कर्म से,
भ्रष्ट क्यों करतीं भला दुष्कर्म से;
लीजिए, जग में भलाई आज दिन !

अरी तू देती मुझे क्या ज्ञान ?
रंभा ! तेरी कैंची से भी, चलती अधिक जबान !

मालिक से किस भाँति बोलना, तुझे नहीं कुछ भान;
झूठा ज्ञान छोंकने में ही, रहती नित गल्तान !

धर्म-धर्म की मचा दुहाई, व्यर्थ फोड़ती कान;
मुझको बिल्कुल पतित समझती, बनती खुद गुणवान !

मेरा कार्य नहीं प्रिय तुझको, प्यारे हैं निज प्रान,
व्यर्थ धर्म की आड़ लगा कर, करती मम अपमान !

धर्म-कर्म कुछ नहीं, ढोंग है, मात्र अतथ्य वितान,
जो कुछ भी है सभी यहीं है, आगे है सुनसान !

चुपके से यह कार्य बनादे, कहना मेरा मान;
देख अन्यथा मैं अभया हूँ, भूलेगी सब शान !

नहीं जानती कहने भर से, क्या होगा तूफान;
खाल खिंचा भुस भरवा दूँगी, रोएगी नादान,

सेठ-वेठ क्या चीज बिचारा, भूले झठ औसान;
नारी मोहन मन्त्र अजब है, मोहित हों भगवान !

मत भय कर तू किसी बात का, निर्भय कारज ठान;
राजा मेरी मुट्ठी में है, नहीं उसे कुछ ध्यान !

रंभा ने अभया रानी का,
कोप - पूर्ण वक्तव्य सुना ।
घूँट जहर की कड़वी पीकर,
मौन शान्ति का मार्ग चुना ॥

समझा मन में, "अगर इसे कुछ,
और अधिक समझाऊँगी ।

नहीं पता, क्या कुछ हो जाए,
व्यर्थ सताई जाऊँगी ॥

बुद्धि भ्रष्ट हो गई सर्वथा,
काम-ज्वर का जोर हुआ ।
भाग्य-सूर्य छिप गया हन्त !
दुर्भाग्य तमस् घनघोर हुआ ॥

मुझे पड़ी क्या, यही स्वयं,
निज करनी का फल पाएगी ।
पाप प्रगट जब होगा तब,
कर मल-मल के पछताएगी ॥

पारतन्त्र्य के पाश फँसी हूँ,
शिक्षा का अधिकार कहाँ ।
दासी तो गूँगी होती है,
जिह्वा की झनकार कहाँ ?"

दिल मसोस गिर पड़ी चरन में,
कपट-नम्र हो यों बोली ।
"क्षमा करें अपराध स्वामिनी !
मैं दासी 'अथ इति' भोली ॥

बोल-चाल का ढंग न मुझको,
ठीक तौर से आता है ।
अन्दर है कुछ और भाव,
पर निकल और ही जाता है ॥

रंभा तो चरणों की चेरी,
जन्म - जन्म की दासी है ।
कैसे तुमसे अलग हो सके,
पूर्णतया विश्वासी है ॥

कार्य आपका सफल करूँगी,
ऐसा मन्त्र चलाऊँगी ।
सेठ सुदर्शन को श्री चरणों
पर शीघ्र झुकाऊँगी ॥

झेलूँगी सब कष्ट, प्राण,
अपनों की भेंट चढ़ा दूँगी ।
'रंभा तुझे धन्य है' इक दिन,
श्री - मुख से कहला लूँगी ॥"

रंभा के मधुवचन सुने तो,
अभया का मुख कमल खिला ।
हर्षमत्त हो नाच उठी,
काफूर हुआ सब रंज - गिला ॥

"रंभा ! तू सचमुच रंभा है,
जो चाहे कर सकती है ।
आज विश्व में तू ही मेरा,
अखिल दुःख हर सकती है ॥

तू ने ही सब उलझन मेरी,
आज तलक सुलझाई हैं ।
मन में जो कुछ उठीं कामना,
झटपट सफल बनाई हैं ॥

आशा क्या, निश्चय है, यह भी,
कार्य सिद्ध तुझसे होगा ।
अब-के भी यश-मुकुट विजय का,
तेरे ही सिर पर होगा ॥"

कहते-कहते शीघ्र कंठ से,
मुक्ता - हार निकाला है ।

चम-चम करता रंभा की,
गर्दन में खुश हो डाला है ॥

देखो, कैसा अजब ढंग है,
स्वार्थी दुनियादारी का ।
पूर्ण अटल है राज्य सर्वतः,
बदकारी मक्कारी का ॥

झूठे मौज करें मन चाही,
सच्चों का मुँह काला है ।
धोखेबाजों ने भोली,
जनता पर फंदा डाला है ॥

सत्य कहें तो मारन धावें,
झूठे जग पतियाते हैं ।
कपट-कृपा से माल मुफ्त का,
अनायास हथियाते हैं ॥

कौन सुनता है किसी की सत्य बातें आजकल;
सत्य-भक्तों की निकाली जातीं आतें आजकल ।

प्रेम से हित से सुनाएँ यदि कहीं हित के वचन;
सहस्र-वृश्चिक-दंश की ज्यों तिलमिलाते आजकल ।

गैर तो क्या मित्र होंगे, सत्य की शिक्षा दिये;
प्राण-प्यारे भी कुटिल आँखें दिखाते आजकल ।

'हाँ' में 'हाँ' रहिए मिलाते बनिए पक्के जी हजूर;
'हाँ जी' के पुतले ही गुलछर्रे उड़ाते आजकल ।

झूठ तेरा राज्य है, चहूँ ओर तेरी पूछ है;
झूठ के बल शंठ भी जग-मान पाते आजकल ।

हा खुशामद ने दिया तखता पलट संसार का,
रात्रि में रवि, दिन में तारागण, उगाते आजकल ।

आएगा वह भी समय मिट जाएगा दुनियाँ से खोज;
झूठ की वंशी "अमर" हँस-हँस बजाते आजकल ।।

रंभा ने सब काम छोड़,
अब यही काम अपनाया है ।
नित नई कल्पना करती है,
चिन्ता का चक्र चलाया है ॥

"राजमहल पर पहरा है,
किस तरह सेठ को ले आऊँ ?
कठिन समस्या अड़ी खड़ी है,
कैसे इसको सुलझाऊँ ?"

बैठी थी एकान्त अचानक,
यह विचार मन में आया ।
रंभा के मूर्छित मानस में,
स्पन्दन का दौरा आया ॥

दौड़ी गई उसी दम जाकर,
मूर्तिकार से बतलाई ।
सेठ सुदर्शन की सुन्दर,
मिट्टी की मूरत बनवाई ॥

लाल वस्त्र से ढक मस्तक रख,
राजद्वार पर आई है ।
द्वारपालकों के ठगने को,
कैसी बुद्धि लड़ाई है ॥

प्रथम द्वार पर प्रहरी ने,
रोका, "क्या ले जाती है ?
मस्तक पर क्या बला रखी है ?
मुझको क्यों न दिखाती है ?"

रंभा बोली "तुझे मूढ़ !
कुछ पता नहीं है, मैं क्या हूँ ?
राजमहल की एक मात्र,
विश्वास-पात्र मैं बाला हूँ ॥

रानी जी इन दिनों वैश्रमण,
देव - अर्चना करती हैं ।
भक्ति-भाव से भेंट चढ़ाकर,
पुत्र कामना करती हैं ॥

एतदर्थ रानीजी ने यह,
देव - मूर्ति मँगवाई है ।
वस्त्र-ढकी ही ले जानी है,
अस्तु नहीं दिखलाई है ॥

आज्ञा जैसी मिली मुझे है,
करके वही निभाऊँगी ।
चाहे कुछ भी करले मूरत,
बिल्कुल नहीं दिखाऊँगी ॥"

द्वारपाल ने कहा----"व्यर्थ ही
रंभा ! तू हठ करती है ।
राज का है हुक्म, बिना देखे,
कैसे जा सकती है ॥

मैं भी देखूंगा तू कैसे,
मुझे नहीं दिखलाएगी ?
राजाज्ञा कर भंग,
महल के अन्दर कैसे जाएगी ?"

रंभा ने यह द्वारपाल का,
वचन सुना तो क्रुद्ध हुई ।
पटकी झट ऊपर से मूरत,
खंड - खंड हो भग्न हुई ॥

बोली कृत्रिम क्रोध बता कर,
"इसका मजा चखाऊँगी ।
जाती हूँ रानी से कह कर,
फाँसी पर लटकाऊँगी ॥

पूजा-जैसी मंगल कृति में,
व्यर्थ भयंकर विघ्न किया ।
रानी जी के इष्ट देव का,
तूने अति अपमान किया ॥"

द्वारपाल घबराया दिल में,
गर्व - मेरु चकचूर हुआ ।
हाथ जोड़ कर लगा मनाने,
'जी-जी' का मजदूर हुआ ॥

"गलती मुझसे विकट हुई,
पर क्षमा कीजिए करुणा ला ।
रानी से बिल्कुल मत कहना,
मूर्ति दूसरी देना ला ॥

आगे तू कुछ भी ले जाना,
मैं न कभी भी रोकूंगा ।

सभी भाँति सहयोग करूँगा,
गलती यह सब धो दूँगा ॥"

रंभा राजी हुई मनोरथ,
पूर्ण हुआ सब काम बना ।
द्वारपाल प्रतिरोधी था,
वह अनुरोधी अभिराम बना ॥

चालाकी से इसी भाँति,
सातों दरवाजे खोल लिए ।
द्वारपाल सातों ही अपने,
भावों के अनुकूल किए ॥

मस्तक पै रख मूर्ति मजे से,
प्रतिदिन आती जाती है ।
देखा-परखा बार-बार,
पर कहीं न अड़चन पाती है ॥

सर्ग छह

वज्र - संकल्प

सेठ सुदर्शन का इधर, सुनिए वर वृतान्त;
कैसे मृदु जीवन बना, वज्र - कठिन उत्क्रान्त ।
भोग रहे थे सेठजी, सुख - पूर्वक गृह - वास;
पुण्ययोग से दुःख का, था न जरा अवकाश ।

शरद काल का समय अनूठा,
कार्तिक मास सुहाया है ।
श्रेष्ठ कौमुदी उत्सव प्यारा,
पूनम के दिन आया है ॥

भारत में यह उत्सव भी अति,
मंगलकारी होता था ।
युवक-वृन्द इक नई लहर में,
उस दिन खाता गोता था ॥

सूर्योदय-से-सूर्योदय तक,
उपवन में ही रहते थे ।
शान्त स्वच्छ शीतल रजनी में,
नृत्य - गान सब करते थे ॥

राजाज्ञा थी, कोई भी नर,
नहीं नगर में रह सकता ।

गुप्त रूप से रह जाने पर,
राज - दण्ड सहना पड़ता ॥

और नगर में इधर नारियाँ,
निज स्वातंत्र्य मनाती थीं ।
रंगरेलियाँ करतीं हिलमिल,
प्रेम-पयोधि बहाती थीं ॥

सेठ सुदर्शन जी ने इस दिन,
परम पुण्य संकल्प लिया ।
भोग-मार्ग तज आत्म-शुद्धि,
के अर्थ त्याग का मार्ग लिया ॥

अन्तिम तिथि है चतुर्मास की,
पौषध का व्रत करना है ।
कर रक्खा है गुरुवर से प्रण,
पाप - पंक सब हरना है ॥

राज के जा पास नगर में,
रहने की स्वीकृति ले ली ।
धन्य सुदर्शन धर्म-कौमुदी,
उत्सव की क्रीड़ा खेली ॥

शान्त, कान्त, एकान्त स्थान में,
पौषधशाला सुन्दर थी ।
वातावरण शान्त था,
कोई खटपट थी न गड़बड़ थी ॥

काष्ठ-पट्ट पर शुद्ध स्वदेशी,
आसन विमल बिछाया है ।

पद्मासन सानन्द लगा दृढ़,
पौषध व्रत अपनाया है ॥

वीर प्रभु की साक्षी से की,
अटल प्रतिज्ञा अंगीकार ।
गूँज उठी मन-मन्दिर में,
जिन-धर्म - विपंची की झनकार ॥

"भगवन् ! अब से सूर्योदय तक,
तजता हूँ चारों आहार ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मृषादिक,
तजूँ अठारह पापाचार ॥

संसारी गृह-झंझट से विश्रान्ति,
आज कुछ लेता हूँ ।
आत्म-साधना में तन मन का,
योग क्लेश - हर देता हूँ ॥

लेशमात्र भी पाप कर्म का,
भाव न मन में लाऊँगा ।
अन्तस्तल में धर्म ध्यान का,
सुन्दर साज सजाऊँगा ॥

चाहे कुछ भी संकट आए,
स्वीकृत पंथ न छोड़ूँगा ।
फँसकर सुखद प्रलोभन में भी,
कभी न निज-व्रत तोड़ूँगा ॥"

पौषध व्रत को सफल बनाते,
दिन सानन्द समाप्त किया ।

शीतलतम रजनी ने आकर,
उष्ण दिवस का स्थान लिया ॥

शुद्ध हृदय से पाप-पंकहर,
प्रतिक्रमण विधि से कीना ।
शास्त्र रीति से कृत पापों का,
प्रायश्चित विधि से लीना ॥

प्रतिक्रमण से निबट जिनेन्द्र,
स्तुति का पथ अभिराम गहा ।
भक्ति-सुधा की सुर सरिता का,
कलिमलहरण प्रवाह बहा ॥

वीर प्रभू के श्री चरणों में,
नम्र प्रार्थना करता है ।
स्वार्थ-रहित सुविशुद्ध भक्ति का,
रूपक प्रस्तुत करता है ॥

जीवन सफल बनाना, बनाना,
प्रभू वीर जिनराज जी !

मन-मन्दिर में घुप है अँधेरा,
ज्ञान की ज्योति जगाना, जगाना प्रभू० !

धधक रहा है द्वेष दवानल,
प्रेम की गंगा बहाना, बहाना प्रभू० !

भोग-वासना दाह लगी है,
अन्तर-तपत बुझाना, बुझाना प्रभू० !

अगम भँवर में नैय्या फँसी है,
झट-पट पार लगाना, लगाना प्रभू० !

न्याय मार्ग का पक्ष न छोड़ूँ,
दुश्मन हो सारा जमाना, जमाना प्रभू० !

उत्कट संकट हँस हँस झेलूँ,
अविचल धैर्य बँधाना, बँधाना प्रभू० !

प्राणी-मात्र को सुख उपजाऊँ,
चाहूँ न चित्त दुखाना, दुखाना प्रभू० !

मैं भी तुम-सा जिन बन जाऊँ,
परदा दुई का हटाना, हटाना प्रभू० !

'अमर' निरन्तर आगे बढ़ूँ मैं,
कर्तव्य-वीर बनाना, बनाना प्रभू० !

सेठ प्रार्थना के पल-पल में,
सद्भावों में लीन रहा ।
भक्त-हृदय में भक्ति-भाव का,
दिव्य स्रोत उन्मुक्त बहा ॥

"वीतराग तव शरण जगत में,
एकमात्र सुखदायी है ।
घोर दुःखों के आने पर भी,
होता तू ही सहायी है ॥

भक्तों का जो कुछ गौरव है,
मात्र तुम्हारी करुणा है ।
दीन-बन्धु ! मुझको तो तुमसे,
बढ़कर और न शरणा है ॥

आ जाओ मन-मन्दिर में,
हे नाथ ! शीघ्रतम आ जाओ ।

पाप-पंक से पूरित मेरा,
हृदय पवित्र बना जाओ ॥

एक प्रहर तक नाथ ! तुम्हारा,
ध्यान - हृदय में लाऊँगा ।
मौन रहूँगा, तुम्हें रटूँगा,
जग की ओर न जाऊँगा ॥"

❖

सर्ग सात

अग्नि - परीक्षा

धार्मिक जन निज धर्म में रहते यों संलग्न ।
पापात्मा आकर वृथा करते नर्तन नग्न ।।

सेठ सुदर्शन जी ने इस विधि,
प्रभु का ध्यान लगाया है ।
रंभा ने उस ओर दंभ का,
पूरा जाल बिछाया है ॥

देख लिया था दिन में ही सब,
अवसर मायाचारी का ।
चली सेठ को सिर पर रख,
आगया नाश मक्कारी का ॥

ध्यान-मग्न था सेठ,
प्रतिज्ञा-पालन में संलग्न रहा ।
बोला नहीं जरा भी,
पहले जैसा ही दृढ़ मौन रहा ॥

द्वारपाल थे पहले भ्रम में,
नहीं बिचारे कुछ बोले ।
धोखे में फँस हो जाते हैं,
चतुर विचक्षण भी भोले ॥

सब के आगे से ही निधड़क,
राज महल में पहुँच गई ।
भंडा-फोड़ हुआ न बीच में,
निर्भयता की सांस लई ॥

पहले से ही निश्चित था जो,
पूर्ण सुसज्जित शयनागार ।
कण-कण में फैल रही थी,
जहाँ विषय वासनाओं की धार ॥

बैठा सेठ सुदर्शन को वह,
रानी से जाकर बोली ।
"कीजे भेंट सुदर्शन से अब,
भर लीजे सुख की झोली ॥

मैंने तो निज कार्य पूर्ण,
कर दिया, तवाज्ञा पाली है ।
आगे तुम वह महल खड़ा,
करलो कि नींव जो डाली है ॥"

रानी अपने चित्त में, हर्षित हुई अपार,
चली शयन-आगार को, सज सोलह शृंगार ।
रूप मनोहर खिल उठा, इन्द्राणी अनुहार,
झलमल झलमल हो रही, शोभा का क्या पार ?

रक्खा पैर भवन में ज्यों ही,
दृश्य और का और हुआ ।
रंग रूप रानी का मोहकता में,
मोहक और हुआ ॥

रंग-रंगीले झाड़ों से,
रंगदार रोशनी झड़ती थी ।
पड़ती थी रानी के मुख पर,
सुन्दरता अति बढ़ती थी ॥

नाना भाँति सुगन्ध महल में,
मादकता बरसाता था ।
काम-सरोवर अपनी पूरी,
सीमा पर लहराता था ॥

रानी ने जो सेठ सुदर्शन,
देखा तो बस चकित रही ।
कामदेव साक्षात अमित,
सौन्दर्य-सुधा थी बरस रही ॥

आँखें झपकी एक बार ही,
सह न सकी वह तेज प्रचंड ।
आधा तो बस दर्शन से ही,
हुआ विलज्जित रूप - घमंड ॥

साहस करके फिर भी अपना,
मोहन - जाल बिछाती है ।
प्रेमभाव से गद्‌गद् हो,
चरणों में शीश झुकाती है ॥

"प्राणनाथ ! मैं बहुत दिनों से,
तव दर्शन की इच्छुक थी ।
जलधर के प्रति चातक जैसी,
निश-दिन रहती उत्सुक थी ॥

मुझे आपका एक सखी ने,
मोहन - रूप सुनाया था ।

तब से ही मम हृदय-भवन में,
प्यारा नाम समाया था ॥

रंभा के द्वारा मैंने ही,
तुम्हें यहाँ बुलवाया है ।
मनोवासना-पूर्ति-हेतु यह,
सारा साज सजाया है ॥

राजाजी हैं गए आज,
उपवन में क्रीड़ा करने को ।
आजादी के साथ सुअवसर,
पाया तुमसे मिलने को ॥

राजा का या और किसी का,
भय न हृदय में रखिएगा ।
दासी की चिर अभिलाषा,
निःशंक पूर्ण अब करिएगा ॥"

रानी के वचनों से कुछ भी,
नहीं सुदर्शन सिक्त हुआ ।
ध्यान-मग्न पहले जैसा ही,
रहा, न चंचल चित्त हुआ ॥

बैरागी मुख-चन्द्र-बिम्ब पर,
नहीं विकृति छाया आई ।
रानी खुद ही हतप्रभ सी हो,
मन - ही - मन में शरमाई ॥

हाव-भाव के साथ विलासी,
वचनों से फिर भी बोली ।
खुल्लम-खुल्ला नग्न,
वासनाओं की विष-गठरी खोली ॥

भोगो भोग प्रेम से आज सेठ जी नई जवानी है,
नई जवानी है, सेठ जी नई जवानी है ।

सूरत मोहन-गारी प्यारी, नयन समानी है,
तन मन धन सब वारूँ तुझ पर तू दिल-जानी है ।

दासी श्रीचरणों की अभया, नहीं बिगानी है,
रूप - माधुरी-मुग्ध तुम्हारे हाथ-बिकानी है ।

तड़फत हूँ दिन रैन मछलियाँ ज्यों बिन पानी हैं,
आग बिरह की सुलग रही, वह आज बुझानी है ।

आँख खोल कर देखो कैसी छवि लासानी है,
रूप - गर्विता इन्द्राणी भी देख लजानी है ।

स्वर्ग नरक के भ्रम में दुनियाँ व्यर्थ भुलानी है,
झूठा धुंधपसारा न कुछ आनी-जानी है ।

यौवन-वय में जप तप करना शक्ति गँवानी है,
कोमल कंचन - वर्णी काया व्यर्थ सुखानी है ।

भोगो भोग मजे से जब तक यह जिन्दगानी है,
आखिर पाँच तत्व की पुतली गल सड़ जानी है ।

अवसर हाथ लगा खो देना, अति नादानी है,
दया कीजिए नाथ ! प्रेम की गाँठ जुड़ानी है ।

मौन प्रतिज्ञा पूर्ण हुई,
अब ध्यान सेठ ने खोला है ।
रानी समझी काम बना,
दृढ़ आसन कुछ तो डोला है ॥

लेकिन सेठ सुदर्शन मन पर,
नहीं विकृति की रेखा थी ।
निष्कंप मन्दराचल-सम,
डिगने की कुछ न अपेक्षा थी ॥

फिर भी रानी को समझा,
सत्पथ पर लाना चाहा है।
पतन-गर्त में गिरने से,
अविलम्ब बचाना चाहा है॥

"माता जी ! श्री मुख से यह,
क्या गंदा जहर उगलती हैं।
शान्त हृदय विक्षुब्ध हुआ है,
रग - रग मेरी जलती हैं॥

नृप-पत्नी जनता की माता,
शास्त्र गवाही देता है।
यह दूषित प्रस्ताव आपके,
मुख शोभा कब देता है॥

कामवासना-पूर्ति चाहती,
हो पुत्रों द्वारा कैसे ?
पशुओं जैसा अधमाधम,
यह कृत्य तुम्हें भाया कैसे ?

यदि इस भाँति राजवंश की,
ललनाएँ भी डूबेंगी ?
तो कैसे जग इतर नारियाँ,
शील धर्म पर झूमेंगी ?

दूराचार के पतन मार्ग चढ़,
पाप भार क्यों ढोती हैं।
क्षणिक सुखों के लिए
पति-व्रत धर्म अमोलक खोती हैं॥

स्वर्ग-नरक का कथन सत्य है,
नहीं झूठ का अंश जरा।

अच्छी और बुरी करनी का,
मिलता है फल सदा खरा ॥

भोग-वासना में फँसने को,
मिला नहीं नर - तन प्यारा ।
जीवन सफल बनाया उसने,
जिसने शील रत्न धारा ॥

मैंने तो जब से इस जग में,
कुछ - कुछ होश सँभाला है ।
माता और बहन सम,
पर नारी को देखा-भाला है ॥

मुझसे तो यह स्वप्न तलक,
में भी आशा मत रखिएगा ।
तैल नहीं है इस तिलतुष में,
चाहे कुछ भी करिएगा ॥

स्वयं स्वर्ग से इन्द्राणी भी,
पतित बनाने आजाए ।
तो भी वज्र-मूर्ति-सा मेरा,
मन - मेरु न डिगा पाए ॥

पाप कर्म के फल से मैं तो,
प्रति पल ही भय खाता हूँ ।
और तुम्हें भी माताजी !
बस यही भाव समझाता हूँ ॥"

मत पीवे पियाला विषय रस का !

काम-वासना जहर हलाहल,
नाश करे सुकृत रस का ।

ले डूबेगा अगम भँवर में,
ऐसा लगा बुरा चसका ।

क्यों तू जवानी में, हुई है दिवानी;
जीवन है यह दिन दश का ।

रंगरेलियाँ धरी ही रहेंगी;
काल अचानक आ धसका ।

दुर्गति में जब कष्ट मिलेंगे;
नशा उतर जाय नस-नस का ।

राजवंश की तू कुल-गृहिणी;
दाग लगा मत अपयश का ।

संयम का सत्पथ अपना ले;
मनुष्य जन्म फिर नहीं वश का ।

सेठ सुदर्शन से रानी ने,
रूखा उत्तर पाया है ।
अभिलाषा का चिर पोषित कल्पित,
कमल पुष्प कुम्हलाया है ॥

"मैं गलती से जिसे मृदुल,
मिट्टी का ढेला समझी थी ।
वज्र-शिला-सा निकलेगा वह,
नहीं जरा भी समझी थी ॥

रूपमाधुरी पर ललचाए,
सेठ न ऐसा कामी है ।
पक्का है निज प्रण पर बिल्कुल,
नहीं भोग-पथ गामी है ॥

जगत-विमोहन अस्त्र आखिरी,
अब इक और चला देखूँ ।
वैभव के अति सुखद प्रलोभन,
का नव - जाल रचा देखूं ॥"

"बैरागी जी, रहने दीजे,
बस विराग की ये बातें ।
धर्म-धूर्त तुम जैसों की,
मैं समझूँ हूँ सारी घातें ॥

अन्दर ज्वाला भड़क रही है,
ऊपर धर्म दिखावा है ।
क्या लोगे इन बातों में ?
सब झूठा यह बहकावा है ॥"

न तानें ज्यादा, कृपा करें अब,
बड़ा तुम्हारा लिहाज होगा;
अगरचे राजी करेंगे मुझको,
सफल तुम्हारा भी काज होगा ।
समग्र चंपा का राज्य वैभव,
तुम्हारे चरणों में आ झुकेगा;
न देर होगी नरेन्द्रता का,
तुम्हारे मस्तक पै ताज होगा ।
यह महल मन्दिर, यह फौज लश्कर,
यह स्वर्ण-सिंहासन राजशाही;
तुम्हारी मुट्ठी में होगा सब कुछ,
सुरेन्द्र-सा सौख्य-समाज होगा ।
जुटेंगे सारे सुखों के साधन,
मजे में गुजरेगी जिन्दगी सब;

स्वतंत्र शासन सदा चलाना,
अखंड सब पै स्वराज होगा ।

समझलें अब भी न बिगड़ा कुछ है,
विनम्रता से कहती हूँ तुमसे;

अगर न माने तो देख लेना,
ठिकाने जल्दी मिजाज होगा ।

लगेगा पल भर, चलेगा खंजर,
गिरेगा मस्तक जमीं पै कट कर;

तड़फ-तड़प कर बनेगा ठंडा,
यह जालिमाना इलाज होगा ।

न काम आएगा धर्म तेरा,
कुटुम्ब होगा विनष्ट तेरा,
क्यों खोता नाहक अमूल्य जीवन,
सदा न हर्गिज यह साज होगा ।

सेठ हृदय पर इन बातों का,
हुआ जरा भी नहीं असर ।
अभया का निकला यह भी,
जग - मोहनकारी अस्त्र लचर ॥

धर्मवीर को कोई भी,
पथ भ्रष्ट नहीं कर सकता है ।
सागर का गंभीर रूप क्या,
झंझानिल हर सकता है ॥

बोला निःसंकोच जरा भी,
नहीं हृदय में सकुचाया ।
साफ-साफ शब्दों में अपना,
दृढ़ निश्चय यह बतलाया ॥

सुदर्शन ऐसी बातों में, कभी हर्गिज न आएगा;
खुशी से अपना यह सर, सत्य के पथ पर कटाएगा ।

गृहांगण में अमित लक्ष्मी, सदा अठखेलियाँ करती,
तुम्हारे तुच्छ वैभव पर भला क्यों कर लुभाएगा ।

जड़ें इस राज्य की गूँगी प्रजा के खून से तर हैं,
घृणा है स्वप्न तक में ध्यान लेने का लाएगा ।

मिले यदि इन्द्र का आसन पदच्युत धर्म से होकर,
न लेगा, भीख दर-दर की भले ही माँग खाएगा ।

डराती क्या है पगली ! मौत का डर तू दिखा मुझको,
खुशी से जेरे-खंजर शीश झट अपना झुकाएगा ।

न कुछ जीवन की परवा है, न कुछ मरने का डर दिल में,
मुसीबत लाख झेलेगा, मगर निज प्रण निभाएगा ।

तुझे करना हो जो करले, खुली है छूट तेरे को,
अटल निज सत्य की महिमा सुदर्शन भी दिखाएगा ।

❖

सर्ग आठ

शूली के पथ पर

सेठ सुदर्शन का मधुर, अमृतमय उपदेश,
अभया को विषमय हुआ, देखा पापावेश ।

रानी भड़क उठी यह सुनकर,
नहीं क्रोध का पार रहा ।
तार-तार हो गई हिताहित,
का न जरा सुविचार रहा ॥

"झूठे भ्रम में फँस कर मैंने,
निज व्यक्तित्व गँवाया है ।
बना न कुछ भी काम व्यर्थ ही,
परदा - फाश कराया है ॥

प्रातःकाल हुआ है, कैसे,
अब निज लाज बचाऊँगी ?
सूर्योदय होने वाला है,
कैसे इसे छुपाऊँगी ?

जालिम ने मम आशाओं पर,
बिल्कुल पानी फेर दिया ।
मैं अभया क्या, अगर इसे अब,
यों ही जीवित छोड़ दिया ॥"

बोली सेठ सुदर्शन से—"ले अब,
कैसा हाल बनाती हूँ ?
मानी बात नहीं अब उसका,
कैसा मजा चखाती हूँ ?

देख तमाशा मेरा, जौहर,
अपना क्या दिखलाती हूँ ?
रे जालिम ! मक्कार !! तुझे,
अब शूली पर चढ़वाती हूँ ॥

मेरे एक हुक्म से तेरा,
कुछ का कुछ हो जाएगा ।
तड़पेगा, सिसकेगा, तन से,
प्राण पृथक हो जाएगा ॥

बाल बिखेरे, चीवर फाड़े,
विकृत रूप बनाया है ।
स्थान-स्थान पर अंग नोंच कर,
शोणित - सा झलकाया है ॥

आँखों में आँसू की धारा,
बही जोर से चीख उठी ।
आस-पास के जनप्रदेश में,
रोदन की ध्वनि गूँज उठी ॥

"दौड़ो-दौड़ो, आज महल में,
कौन दुष्ट घुस आया है ?
अकस्मात् किस पापी ने,
सोती को मुझे दबाया है ॥"

द्वारपाल सब क्रंदन सुनकर,
सहसा अति ही घबराए ।

हाथों में ले नग्न खड्ग,
बस मार-मार करते धाए ॥

अन्तःपुर की रक्षक सेना ने,
भी फौरन कूँच किया ।
राज-महल पर पलक मारते,
चहुँ-दिशि घेरा डाल दिया ॥

सेनापति कुछ सैनिक लेकर,
शीघ्र महल में आया है ।
चौंक उठा, सहसा, जब बैठा,
सेठ सुदर्शन पाया है ॥

क्या करता, कर्त्तव्यपाश में,
फँसा हुआ था बेचारा ।
रानी की आज्ञा से झटपट,
लौह-निगड़ में कस डारा ॥

राजा को भी खबर लगी,
तो दौड़ बाग से झट आया ।
क्या कुछ कैसे हुआ ?
धूर्त रानी ने यों सब बतलाया ॥

"प्राणनाथ ! क्या पूछो हो,
अति भीषण अत्याचार हुआ ।
शील-धर्म से च्युत करने के,
लिए दुष्ट तैयार हुआ ॥

मैंने जो धिक्कारा, तो बस,
जोर - जब्र करना चाहा ।
अंग नोंच कर, वस्त्र फाड़ कर,
मुझे नग्न करना चाहा ॥

मैंने आज बड़ी मुश्किल से,
अपनी लाज बचाई है।
बस, प्रताप से नाथ !
तुम्हारे, इज्जत रहने पाई है ॥

कौन दुष्ट है, कौन नहीं है,
कैसे सहसा आ धमका।
देखें शीघ्र वहाँ कमरे में,
पता लगाएँ जालिम का ॥

पूछताछ बिन ही पापी को,
शूली तुरत चढ़ा देना।
मुझ पर भारी जुल्म हुआ है,
नाथ ! अवश्य बदला लेना ॥

प्राण दुष्ट के हाय-हाय में,
तड़फ - तड़फ कर छूटेंगे।
मेरे पीड़ित अन्तस्तल के,
तभी फफोले फूटेंगे ॥

अगर लाज से या दवाब से,
उसे अछूता छोड़ेंगे।
तो निश्चय ही मेरे से,
चिर - प्रेम - शृंखला तोड़ेंगे ॥

अपमानित होकर मैं कैसे,
जग में मुँह दिखलाऊँगी ?
याद रखें, फाँसी का फंदा,
लगा स्व-प्राण गँवाऊँगी ॥"

राजा ने यह सुन रानी को,
अपने वक्ष लगा लीना।

मीठे स्नेह-भरे वचनों से,
कपट - कोप उपशम कीना ॥

शयन-कक्ष में आया राजा,
सेठ सुदर्शन को देखा।
क्रोधान्ध हुआ, भड़का तड़का,
सब लुप्त हुई सन्मति - रेखा ॥

"रे जालिम ! मक्कार !! कमीने !!!
तेरी इतनी मक्कारी ?
घुस आया बेखौफ महल में,
बदकारी दिल में धारी ॥"

"सेनापति ! ले चलो सभा में,
मैं भी जल्दी आता हूँ ।
कामुकता उन्मादकता का,
पूरा मजा चखाता हूँ ॥"

न्यायालय में स्वर्णासन पर,
राजा बैठा गर्वित है ।
और सामने सेठ सुदर्शन,
बंदी बना उपस्थित है ॥

आस-पास में मंत्री दल भी,
बैठा है कुछ चिन्ताग्रस्त ।
दर्शक जनता की भी भारी,
भीड़ खड़ी है भय से त्रस्त ॥

राजा बोला, "कहो सेठ जी !
यह क्या भूत सवार हुआ ?
कैसे भीरु हृदय में तेरे,
पैदा यह कुविचार हुआ ?

तू तो पक्का दृढ़ धर्मी वर,
भक्तराज बन फिरता था।
अपने आगे सारे जग को,
पापी नीच समझता था॥

राजहंस के विमल वेष में,
कौवा मक्कारी निकला।
सदाचार का एक न कण भी,
घोर दुराचारी निकला॥

क्या तू उस दिन इसी कर्म पर,
मुझको ज्ञान सिखाता था।
धर्मगुरू बन शिक्षा के मिस,
ताने मुझे सुनाता था॥

तेरा इतना दुःसाहस,
जो मेरी भी परवा न करी।
अन्तःपुर में घुस आया,
खुद रानी से भी छेड़ करी॥

मुझको क्या था पता दुष्ट तू,
इसी हेतु यहाँ रहता है।
आज्ञा लेकर धर्म-क्रिया की,
यों छलछन्द विरचता है॥

क्या जाने, किस-किस नारी को,
तूने भ्रष्ट किया होगा?
गुप्त रूप से दीन प्रजा पर,
क्या-क्या जुल्म किया होगा?

बतलाते सब सत्य-सत्य,
जो कुछ भी घटना बीती है।

काम-मत्त हो कर के तूने,
कैसे की मन-चीती है ॥"

सेठ सुदर्शन ने निज मन में,
सोचा "समय भयंकर है !
अपने मुख से भेद खोलना,
नहीं अभी श्रेयस्कर है ॥

व्यर्थ सफाई देने से कुछ,
भी न स्पष्ट हो पाएगा ।
गुप्त सत्य है, कौन मनुज,
विश्वास - भावना लाएगा ?

अपने मुख से अपनी शुचिता,
कभी न शोभा देती है ।
आता है जब समय स्वयं,
वह निज को चमका देती है ॥

रानी को मैंने वास्तव में,
मातृ - स्वरूप निहारा है ।
और निजानन से माता,
कर कर सस्नेह पुकारा है ॥

जिसको माता कहा उसी के,
प्रति गन्दी वाणी बोलूँ ।
मारी जाएगी बेचारी,
गुप्त भेद यदि मैं खोलूँ ॥"

मन्द-स्मित निर्भय यों बोला,
"राजन् ! मैं क्या बतलाऊँ ?

आप स्वयं हैं, समझदार बस,
और कहो क्या समझाऊँ ?

जैसी भी है, जो कुछ भी है,
बात गुप्त ही रहने दें ।
दण्ड दीजिए जो भी दिल में,
आए कसर न रहने दें ॥

रहस्य-भरी घटना है,
बताऊँ क्या सरकार !

कौन है कहता मुझको धर्मी
मैं तो बड़ा कुकर्मी;
घोर कलिमल-भंडार !

अन्तर-शोधन में मन लाया,
मुझ से बुरा न कोई पाया;
सभी खोजा संसार !

तदपि न ऐसा पतित हिया है,
जैसा तुमने समझ लिया है;
पाप का ही अवतार !

स्वर्ग से देवी भी चल आए,
तो भी चित्त न डिगने पाए,
शील अविचल अविकार !

सत्य का भेद स्वयं मैं खोलूँ,
होकर दीन हीन-सा बोलूँ,
नहीं मुझको स्वीकार !

सत्य का दिनकर खुद चमकेगा,
अंत में तेज अटल दमकेगा,
झूठ का परदा फार !

प्राणों का मोह नहीं है,
मौत का कुछ भी खौफ नहीं है,
चलाएँ सिर तलवार !

धर्म का रग-रग रंग समाया,
मिटेगा हर्गिज नहीं मिटाया,
अमर है दृढ़ हुंकार !

राजा भड़का "अरे नीच !
अब भी न गई तव मक्कारी ।
मन में अब भी मचल रही है,
शेखी - खोरी हत्यारी ॥

सच्चा है, तो क्यों न साफ,
सब भेद खोल बतलाता है ?
टेढ़ी ही बातें करता है,
सीधे मार्ग न आता है ॥

अन्तकाल है निकट मृत्यु,
तव मस्तक पर मँडराती है ।
बुद्धि भ्रष्ट हो गई सर्वथा,
लज्जा तनिक न आती है ॥

वीर सैनिको ! ले जाओ,
झट शूली दो, मरवा डालो ।
और लाश को खंड-खंड कर,
कुत्तों से नुचवा डालो ॥"

शूली का आदेश सुना,
तो सन्नाटा सब ओर हुआ ।
चित्रलिखित से हुए सभी जन,
शोक-सिन्धु का दौर हुआ ॥

सेठ सुदर्शन एक मात्र,
परिषद् में बैठा हँसता था।
आँखों में तेज चमकता था,
मुखविधु पर नूर बरसता था॥

"भूपति ! मुझ से अपराधी को,
यह क्या पामर दंड दिया।
उत्तेजित हो तुमने कुछ भी,
नहीं बुद्धि से काम लिया॥

प्राणदंड की खातिर तो मैं,
था पहले से ही राजी।
और दीजिए दंड कठिन कुछ,
क्योंकि सेठ अति है पाजी॥

मृत्यु नहीं है, यह तो मुझमें,
नूतन जीवन डालेगी।
पाप-कालिमा जन्म-जन्म की,
मल-मल कर धो डालेगी॥

दुनिया कुछ भी समझे मुझको,
इससे क्या लेना - देना ?
नश्वर जग में सार यही है,
जीवन सफल बना लेना॥

मैं क्या प्रभो ! मरूंगा आखिर,
मृत्यु अनृत की ही होगी।
भौतिक बल पर नियत अन्त में,
विजय सत्य की ही होगी॥

देखूँगा वह शूली कैसे,
मुझको मार गिराएगी।

केवल जड़ तन पर, या कुछ,
मुझ पर भी असर जमाएगी ॥

अजर अमर हूँ सदा सर्वदा,
मरा न अब मर सकता हूँ ।
त्यागे देह अनन्त आज भी,
समुद त्याग कर सकता हूँ ॥"

"ले चलो दोस्तो ! शीघ्र वहीं,
उस स्वर्गारोहण के पथ पर ।
पापभरी दुनियाँ से निकलूँ,
अमर शान्ति अवलंबन कर ॥"

राजा उत्तर दे न सका कुछ,
हुआ खूब ही खिसियाना ।
देख अटल गंभीर सेठ को,
दिल में अति अचरज माना ॥

इसी बीच श्रीयुत मतिसागर,
मंत्री सम्मुख आया है ।
हाथ जोड़कर विनय सहित,
नृप - चरणों शीश झुकाया है ॥

"देव ! हृदय में सोचें तो कुछ,
यह क्या पाप कमाते हैं ?
अंगराष्ट्र के प्राण सेठ को,
शूली आप चढ़ाते हैं ॥

मैंने परख लिया बातों से,
नहीं सुदर्शन दोषी है ।
तेजस्वी, निर्भीक, साहसी,
होता कभी न दोषी है ॥

सेठ सत्य ही कहता है,
यह भेद खोलना ठीक नहीं ।
मेरे मत से भी यह घटना,
जा पहुँचेगी और कहीं ॥

श्रेष्ठ वंश चंपा का भ्रमवश,
नष्ट - भ्रष्ट हो जाएगा ।
हा ! अबोध बालक, गृहणी,
सब परिजन रुदन मचाएगा ॥

प्राण-दंड है घोर दंड,
कुछ सोच-समझ कर काम करें ।
क्या परिणाम आखिरी होगा,
कुछ तो दिल में ध्यान धरें ॥"

राजा आँखें लाल-लाल कर,
क्रोध - विकल होकर गरजा ।
"रहने दे बस शिक्षा अपनी,
मेरे आगे से हट जा ॥

न्याय निपुण बनता है खुद तो,
मुझको मूर्ख समझता है ।
वक्त और बेवक्त धर्म का,
पुच्छल पकड़े फिरता है ॥

तुझमें आदत बड़ी निकम्मी,
नहीं कभी भी टलता है ।
जब भी मैं कुछ काम करूँ,
तब तू ही केवल अड़ता है ॥

राजसभा में और बहुत से,
भी तो हैं ये अधिकारी ।
कोई भी कुछ नहीं बोलता,
तेरी है बक-बक जारी ॥

साफ जान पड़ता है तूने,
इससे रिश्वत खाई है ।
आँखों के गुप्त इशारों से ही,
खूब रकम ठहराई है ॥

अगर और कुछ अनघड़ बातें,
मुझ से आगे बोलेगा ।
साफ-साफ कहता हूँ नाहक,
अपना जीवन खो देगा ॥"

आस-पास से 'पागल है,
पागल है', की ध्वनि गूँज उठी ।
जी हुजूर अधिकारी दल की,
टोली हँसकर गरज उठी ॥

"बेवकूफ है, जाहिल है,
जो नरपति के मुँह लगता है ।
शेखी में आ बिना बात ही,
न्याय-कार्य में अड़ता है ॥

अपराधी को दंडित करना,
राजा की दृढ़ नीती है ।
नहीं नजर आती हमको तो,
इसमें कुछ अनरीती है ॥

अगर सेठ ने इस घटना में,
जरा नहीं झकमारी है ।
तो फिर क्या रानी जी की,
ही यह सारी मक्कारी है ॥

राम ! राम !! श्री रानीजी को,
इस प्रकार लांछित करना ।
भरी सभा में बोल रहा है,
राजा का कुछ भी डर ना ॥"

मंत्री मतिसागर बोला "क्यों,
नाहक शोर मचाते हो ।
व्यर्थ खुशामद कर राजा को,
पतन - मार्ग ले जाते हो ॥"

"राजा जी ! इन खुदगर्जों की,
आप न बातों में आएँ ।
ले डूबेंगे अगर हाथ की,
गुड्डी इन की बन जाएँ ॥

मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं है,
सच्ची बातें कहता हूँ ।
रात्रि-दिवस इस राजमुकट,
के हित में चिन्तित रहता हूँ ॥"

मुझे क्या, तुम्हें दुःख उठाना पड़ेगा;
अखिल गर्व गौरव गँवाना पड़ेगा ।

चढ़ा है नशा, राज सत्ता का अब तो;
किसी दिन कुमति पर लजाना पड़ेगा ।

विजय न्याय की अन्त हो के रहेगी;
अनय को निजानन छिपाना पड़ेगा ।

खुशामद-परस्तों की बातों में आकर;
अधम धार बेड़ा डुबाना पड़ेगा ।

चढ़ाते जिसे आज शूली उसी के;
चरण में यह मस्तक झुकाना पड़ेगा ।

सताना न अच्छा, कभी बेगुनाह का;
समय आए आँसू बहाना पड़ेगा ।

बुरा या भला दिल में आए जो मानें;
सचाई का रुख तो दिखाना पड़ेगा ।

राजा दधिवाहन, बस इतना,
सुनते ही यम-रूप हुआ ।
छाया भय सब ओर सभा का,
रूप समग्र विरूप हुआ ॥

"ओ चांडाल ! नीच !! दुर्भागी !!!
तू किस पर गरबाया है ।
बक-बक करता ही जाता है,
निज - पद - भान भुलाया है ॥

वीर सैनिको ! इसको भी निज,
करनी का फल दिखला दो ।
अन्धकार-मय कारागृह में,
डालो, बेड़ी जड़वा दो ॥"

आज्ञा पाते ही मंत्री को,
सैनिक दल ने पकड़ लिया ।

राजाज्ञा अनुसार शीघ्र ही,
कारागृह में डाल दिया ॥

मानव पर जब संकट की,
घन घोर घटा घिर आती है।
बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है,
निज हित की नहीं सुहाती है ॥

❖

सर्ग नौ

आदर्श पतिव्रता

इधर सभा में हो रहा भीषण अत्याचार;
उधर नगर में मच रहा, भारी हाहाकार ।
अन्धकार-सा छा रहा, गली और बाजार,
शोक-सिन्धु में पूर्णतः डूबे सब नर-नार ।
पड़ा अचानक शीश पर, यह क्या वज्र कराल;
सेठ चढ़ाया जायगा, क्या शूली के भाल ?
"दया करें हम पर प्रभो, दीन-बन्धु भगवान;
सेठ हमारे को मिले, सादर जीवन-दान ।"
क्या बूढ़े, बालक, युवा सभी हुए बेभान;
गूँज उठे सब प्रार्थना-ध्वनि से धर्म-स्थान ।

सती शिरोमणि मनोरमा,
निज सुखद सदन में बैठी थी ।
आस-पास सुख-मधु बिखरा था,
हर्ष - सिन्धु में पैठी थी ॥

प्रेम-मग्न हो कर पति के,
चरणों में ध्यान लगाया था ।
पौषध व्रत के विमल पारणे,
का सामान जुटाया था ॥

भाग्यवाद का चक्र शीघ्र ही,
फिरा रंग में भंग हुआ ।
शूली की जो खबर लगी तो,
सभी रंग बदरंग हुआ ॥

हा हाकार मचा घर-भर में,
आँसू का परिवाह बहा ।
नौकर-चाकर परिजन सब में,
नहीं शोक का पार रहा ॥

सब से बढ़कर श्री मनोरमा,
दुःखघात से विह्वल थी ।
चित्तवृत्ति अति व्यग्र हुई थी,
नहीं जरासी भी कल थी ॥

हंत ! सलिल-निःसृत मछली के,
तुल्य अतीव तड़पती थी ।
मूर्छित होकर बार-बार,
बेहोश भूमि पर पड़ती थी ॥

"प्राणनाथ ! यह क्या सुनती हूँ,
छाती मेरी फटती है ।
रोम-रोम में दुःख-वेदना,
प्रतिपल सर-सर बढ़ती है ॥

शूली पर वह पुष्प-लता सी,
देह चढ़ाई जाएगी ।
हाय, तुम्हारी चरण सेविका,
फिर कैसे रह पाएगी ॥

अमल चन्द्र हो नाथ ! आप,
मैं स्वच्छ चन्द्रिका प्यारी हूँ ।
पुष्प मनोहर आप और मैं,
प्रिय सुगन्ध सुख - कारी हूँ ॥

तुम हो सघन जलद, आपकी,
मैं अन्तर जल - धारा हूँ ।
तुम हो पुरुष और मैं हरदम,
साथ लगी तन - छाया हूँ ॥

नाथ, द्वैत यह सहन हो सकेगा,
नहीं कदाचित भी मुझसे ।
पति-पत्नी की एक ही गति है,
अलग रहूँ कैसे तुमसे ॥

छोड़ दुःख में मुझे अकेली,
आप स्वर्ग में जाओगे ?
तोड़ोगे क्या स्नेह-शृंखला,
प्रेमी - व्रत न निभाओगे ?

राजा ने यह कौन जन्म का,
हम से बदला लीना है ।
हाय अचानक शूली का,
जो हुक्म भयंकर दीना है ॥

मेरे पति व्यभिचारी हों,
यह हो ही कैसे सकता है ?
सदाचार में उन जैसा दृढ़,
और कौन हो सकता है ?

राजा ने बस द्वेष-भाव से,
झूठा जाल बिछाया है।
शील-मूर्ति पति के प्राणों पर,
यह दुर्वज्र गिराया है॥"

कैसा जुल्म असीम गुजारा,
हमने जालिम तेरा क्या बिगारा !

सेठ धर्मी बड़े ही गुणी हैं,
शील धर्म है प्राणों से प्यारा;

माता, भगिनी उन्हें है परस्त्री,
आता रंच न हृदय बिकारा !

क्या तू सचमुच शूली देगा,
अति निर्दय निपट हत्यारा;

फूल-शैय्या पै सोने वाला,
कैसे झेलेगा शूली की धारा !

हाय ! छाती में बिजली-सी कड़के,
पूरा चलता जिगर पै है आरा;

पूर्ण स्वर्ग-सुखी-सा कुटुम्ब था,
छाया संकट का अँधियारा !

हाय घर का तो क्या, सारे पुर का,
एक मात्र वही है सहारा;

दीन बालक हैं रो-रो बिलखते,
आज हो गए ये भी आवारा !

जालिम हमको सता के क्या खुश है,
होगा अन्त भला न तुम्हारा;

राज्य वैभव यह सब क्षण-भर में,
उठ जाएगा डेरा यह सारा !

रोते-रोते रुकी मनोरमा,
ध्यान और कुछ आया है।
राजा पर से द्वेष हटा,
मन शान्ति-सिन्धु लहराया है॥

"री मनोरमा, तू तो बिल्कुल,
बुद्धिमूढ़ निकली पगली।
स्वार्थ-मोह ने तेरी उज्वल,
धर्म-बुद्धि सब ही ठग ली॥

राजा का क्या दोष व्यर्थ ही,
उसको लांछन देती है।
मात्र निमित्त बना है वह तो,
लक्ष्य न जड़ पर देती है॥

कौन किसी को दुःख देता है,
सब निज करनी का फल है।
जो कुछ बाँधा कर्म शुभाशुभ,
होता तनिक न निष्फल है॥

मानव तो क्या चीज इन्द्र तक,
इससे छूट न सकते हैं।
कर्मों के आगे तो प्रभु,
अरिहंत तलक झुक सकते हैं॥

और कर्म ! हाँ, वह भी तो है,
पूर्वजन्म का ही पुरुषार्थ।
तोड़ा जा सकता है, यदि हो,
यहाँ प्रतिरोधी पुरुषार्थ॥

दैववाद के अटल भरोसे,
मात्र आलसी ही रहते ।
रोते-रोते जन्म गँवाते,
नित्य नए संकट सहते ॥

किन्तु, वीर निज पैरों पर,
हो खड़े जगत कँपाते हैं ।
चाहे कैसा कठिन कार्य हो,
झट आसान बनाते हैं ॥

आत्मा की है प्रबल शक्ति,
वह चाहे जो कर सकती है ।
भाग्य-चक्र में मन चाहा सब,
उलट - फेर कर सकती है ॥

रोने से क्या काम बनेगा ?
अतः यत्न करना चाहिए ।
आध्यात्मिक बल-हेतु प्रभू की,
चरण - शरण गहना चाहिए ॥

दीन-बन्धु ही मुझ दुखिया का,
सारा दुखड़ा टालेंगे ।
प्राणनाथ को मृत्यु-राक्षसी से,
बस वही बचा लेंगे ॥"

शुद्ध श्वेत परिधान पहन,
पद्मासन सुदृढ़ लगाया है ।
अर्धोन्मीलित नयन बन्द कर,
श्रीजिन ध्यान लगाया है ॥

प्रेम-मग्न हो लगी प्रार्थना,
करने भक्ति - समुद्र बहा ।
'अर्हन्-अर्हन्' साँसों का,
स्वर मन्द - मन्द झनकार रहा ॥

दासी का नाथ उद्धार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !
मैं निराधार, साधार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

आफत की बिजली कड़की है,
छाती धड़धड़ कर धड़की है
दृढ़ साहस का विस्तार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

बस मूर्च्छित-सा मृत-सा तन है,
निस्तेज हुआ निस्पन्दन है;
नव जीवन का संचार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

मुझ निर्बल के बल तुम ही हो,
मुझ निर्धन के धन तुम ही हो;
मुझ अबला का उद्धार करो;
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

हे नाथ भँवर में नैय्या है,
तुम बिन अब कौन खिवैया है;

देरी न करो झट पार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

क्षण-क्षण में दबती जाती हूँ,
अणु भी न उभरने पाती हूँ,

पापों का हल्का भार करो,
जगदीश प्रभो जगदीश प्रभो !

पति शूली चढ़ाये जाते हैं,
निष्कारण मारे जाते हैं;
संकट में हैं कुछ सार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

सीता का संकट टारा था,
द्रौपदी का पट विस्तारा था;
मुझ पर भी क्यों न विचार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

अति विकट पहेली उलझी है,
जो नहीं किसी से सुलझी है;
शुभसत्य की जय-जयकार करो,
जगदीश प्रभो, जगदीश प्रभो !

देव-प्रार्थना करने से,
कुछ मन-दुर्बलता दूर हुई ।
कातर अति अबला की छाती,
साहस से भर - पूर हुई ॥

"बाल्यकाल से पूर्ण अखंडित,
धर्म पतिव्रत पाला है ।
मैंने अब तक नहीं लगाया,
तिलभर धब्बा काला है ॥

क्यों न सत्य फल देगा मेरा,
देगा, देगा, फिर देगा ।
प्राणेश्वर को हँसी-खुशी से,
झट बेदाग छुड़ा लेगा ॥

अब तो पति के हाथों से ही
सुखद अन्न जल पाऊँगी ।

वर्ना मैं इस आसन पर ही,
घुल-घुल कर मर जाऊँगी ॥ ''

सागारी संथारा अति ही,
दृढ़ता - पूर्वक ग्रहण किया ।
एक-मात्र जिनराज-भजन में,
अविचल निज मन जोड़ दिया ॥

देखा पाठक, पतिव्रता का,
जीवन ऐसा होता है ।
आदर्श वीर सतियों का पावन,
अखिल पाप मल धोता है ॥

सती साध्वी वही जगत में,
ललनाएँ यश पाती हैं ।
दुःखकाल में भी जो अपने,
पति से प्रेम निभाती हैं ॥

सदा एकसी सुख-दुःख में,
परछाईं ज्यों रहती है ।
अर्धाङ्गी होने का सच्चा,
गौरव वे ही लहती हैं ॥

पतिव्रता के लिए स्वपति ही,
परम पूज्य परमेश्वर है ।
हृदय-भवन का एक-मात्र,
वह अधिकारी हृदयेश्वर है ॥

चाहे पति हो रोगी, पीड़ित,
दीन, दुखी, दुर्भागी हो ।
प्रेम-भाव से पतिव्रता नित,
चरणों की अनुरागी हो ॥

भारत की ये गृह-देवी ही,
विश्व-वन्द्य गुण गरिमा हैं ।
शक्ति-शालिनी दुर्गा हैं,
बस आर्य-जाति की महिमा हैं ॥

जब भी जो कुछ मन में आया,
अनायास कर दिखलाया ।
देवराज का रत्न-मुकुट भी,
निज चरणों में झुकवाया ॥

❖

सर्ग दस

पौरजनों का प्रेम

सेठानी की भी खबर, फैली नगर मँझार,
दुःख में दुःख उमड़ा मचा दुगुना हाहाकार ।
कपिल पुरोहित का हुआ, सुनकर हाल बेहाल;
आँखों -आगे नाचने लगा शोक दे ताल ।
चंपापुर के प्रमुख जन साथ लिए साधार;
सेठ छुड़ाने के लिए, पहुँचा राज-द्वार ।

राजा जी को बड़े विनय से,
किया सभी ने अभिवादन ।
प्रस्तुत करते मधुर भाव से,
नम्र निवेदन मन - भावन ॥

"देव ! आपने यह क्या सोचा,
व्यर्थ उठा यह क्या रगड़ा ?
सेठ सुदर्शन के पीछे,
निर्मूल लगा यह क्या झगड़ा ?

झूठा, बिल्कुल झूठा है,
जो अपराध लगाया है ।
धोखा देकर किसी दुष्ट ने,
राजन् ! तुम्हें बहकाया है ॥

धर्म-परायण सेठ आपका,
कैसे सत् खो सकता है ?
राजहंस से कैसे वायस-
कार्य नीच हो सकता है ?

त्राहि-त्राहि मच रही नगर में,
अति ही भीषण कलकल है।
क्या बाजारों गलियों में,
सर्वत्र यही इक हलचल है॥

घर का घर बर्बाद हुआ,
क्या तुम्हें और कुछ खबर नहीं ?
सेठानी ने संथारे की,
घोर प्रतिज्ञा अटल गही॥

दया-पात्र हैं दीन पुत्र,
कुछ उन पर तो करुणा कीजे।
एकमात्र अवलम्ब सेठ के,
जीवन की भिक्षा दीजे॥"

राजा उद्धतता से बोला,
"अरे मूर्ख क्या कहते हो ?
न्याय-मार्ग का तुम्हें पता क्या,
निज धंधों में रहते हो॥

अत्याचारी पतिताचारी,
सेठ दंड के काबिल है।
धर्मी क्या, शैतान बड़ा है,
धूर्तराज है, जाहिल है॥"

राजन् ! बताएँ कैसा गुणवान है सुदर्शन;
धर्मज्ञ सज्जनों का अभिमान है सुदर्शन !

सौ कौस दूर रहता, जग की बुराइयों से,
जग में पतिव्रता का उपमान है सुदर्शन !

दृढ़ सत्य का पुजारी, छल छन्द है न कुछ भी;
सादर सदाचरण पर बलिदान है सुदर्शन !

पूछो नगर-नगर में सब ठौर इस की बाबत;
शीलव्रती जगत में असमान है सुदर्शन !

मर्मज्ञ शास्त्र का है, विद्वान है, चतुर है;
सद्ज्ञान बाँसुरी की मृदु तान है सुदर्शन !

दीनों का है सहारा, प्यारा है दुःखितों का;
पीड़ित अनाथ जन का प्रिय प्रान है सुदर्शन !

चंपा की शान है और चंपा की है जरूरत,
भूपेन्द्र ! आप का भी सम्मान है सुदर्शन !

स्वर्गीय देवता है, भगवान है हमारा;
नजरों में आपकी जो शैतान है सुदर्शन !

झेलेंगे अब कहाँ तक अन्याय इस कदर हम;
गूँगी प्रजा की सब कुछ जी-जान है सुदर्शन !

राजा बोला "बदमाशो ! बस,
और न अब बकवास करो ।
क्यों मेरे हाथों से अपना,
नाहक सत्यानाश करो ॥

कामी लंपट को तो करके,
स्तुति आकाश चढ़ाते हो ।
और मुझे तुम बातों-ही-बातों,
में अधम बताते हो ॥

मूर्ख तुम्हीं लोगों ने इसका,
साहस अधिक बढ़ाया है ।
राजमहल में भी जा पहुँचा,
जरा नहीं सकुचाया है ॥

छोड़ूँगा हर्गिज न दुष्ट को,
शूली पर लटकाऊँगा ।
अगर शरारत की तो तुमको भी,
वही राह दिखलाऊँगा ॥"

प्राणों के भय से पुरवासी,
वृन्द विवश चुपचाप हुआ ।
सूझा कुछ भी नहीं अन्य पथ,
किन्तु घोर परिताप हुआ ॥

❖

सर्ग ग्यारह

शूली से सिंहासन

सत्ता के अभिमान का होता जब अतिरेक;
हो जाते हैं नष्ट सब बुद्धि, विचार, विवेक ।
राजा के मस्तिष्क में गूँज रहा है गर्व;
पर होता है क्या, पढ़ें आगे चल कर सर्व ।
राजा तो क्या ईश भी, अगर रुष्ट हो जाय;
धर्मवीर नर पर नहीं, कुछ भी पार बसाय ।

पौर जनों को धमकाकर,
नरपाल सेठ की ओर हुआ ।
आँखें अन्धी बनी क्रोध से,
गर्व-ज्वर का जोर हुआ ॥

कहा सेठ से "मरने को अब,
हो जाओ जल्दी तैयार ।
मैं क्या मरवाता हूँ तुझको,
मरवाता तव पापाचार ॥

हाँ, परन्तु इक राज-धर्म है,
वह भी तो करना होगा ।
प्राण-दण्ड के अपराधी का,
मनोऽभीष्ट करना होगा ॥

प्राण-दान के बिना और जो,
कुछ भी चाहो तुम माँगो ।
ग्राम, नगर, भोजन, जो भी,
मन चाहे, वह ही माँगो ॥"

हँस कर बोला वीर सुदर्शन,
"नहीं तमन्ना कुछ भी है।
क्या माँगूँ जब मनो-भावना,
पूर्ण सभी पहले ही है ॥

अगर आप कुछ देना चाहें,
तो प्रभु केवल यह दीजे ।
माँगे मेरी जो कुछ भी हैं,
पूर्ण धराधीश्वर कीजे ॥"

माँगे मेरी न दिल से भुलाना प्रभो !
पूरी करना, यह निज-प्रण निभाना प्रभो !

राज-राजेश्वर पिता है, प्रिय प्रजा संतान है,
न्याययुत सुख शान्ति देने से ही रहती शान है,
अत्याचारी न चक्र चलाना प्रभो !

घोर दुःख सहती प्रजा है, खोलती न जबान है,
आपके हाथों में उसकी नित्य रहती जान है,
सब को सस्नेह धीर बँधाना प्रभो !

देश में जो भी कहीं, रोगी, दुखी असहाय हों,
आपकी सेवा के द्वारा, वे सभी ससहाय हों;
खुल्ले हाथों खजाना लुटाना प्रभो !

भूप और पतिताचरण का रात-दिन-सा वैर है,
दुर्व्यसन आखेट आदिक हों, वहाँ क्या खैर है;
निर्मल स्वच्छ स्व-जीवन बनाना प्रभो !

न्याय में अपने बिगाने का न होता भेद है,
भेद होता है जहाँ, होता वहाँ ही खेद है;
सच्चे ईश्वर के अंश कहाना प्रभो !

राजपद की श्रेष्ठता, ले डूबते हैं जी-हुजूर,
कान का कच्चा बना देते हैं माया के मजूर;
ऐसी बातों में हर्गिज न आना प्रभो !

दो घड़ी प्रभु-भक्ति भी करना कि झंझट त्यागना,
'कर सकूँ कर्तव्य पालन', हर सुबह यह माँगना;
सोते मानस को नित्य जगाना प्रभो !

मंत्र-मुग्ध सी विस्मित अति ही,
सभी हुई सुनकर वाणी ।
अन्तस्तल में धन्य-धन्य की,
उठी मधुर झंकृत वाणी ॥

पर, यह सत्यामृत राजा को,
पूर्ण हलाहल - रूप हुआ ।
समझा मुझे चिढ़ाता है,
इस कारण राक्षस-रूप हुआ ॥

द्वेष-भाव जब बढ़ जाता है,
तब विवेक कब रहता है ?
शुद्ध हृदय से कहा हुआ भी,
वचन अग्नि सम दहता है ॥

राजा जल्लादों से कहने,
लगा "इसे बस ले जाओ ।
जाहिल है, क्या माँगेगा,
झट शूली का पथ दिखलाओ ॥

बुरी तरह से करो विडंबित,
नगर घुमाकर ले जाना ।
जैसे भी हो धिक्कृत करना,
नहीं जरा भी सकुचाना ॥

राजा का आदेश प्राप्त कर,
काला गधा मँगाया है ।
सिर-मुंडन और काला मुँह कर,
उस पर सेठ चढ़ाया है ॥

गले-सड़े टूटे जूतों का,
हार गले में डाला है ।
जो कुछ कर सकते, कर डाला,
मन का जहर निकाला है ॥

जल्लादों ने पकड़ रखा है,
फूटा ढपड़ा बजता है ।
आस-पास में नंगी तलवारों,
का पहरा चलता है ॥

मध्य चौक में धर्मवीर की,
इधर सवारी आई है ।
उधर विकल जनता की भी,
अति भीड़ चतुर्दिश छाई है ॥

पौर जनों को संबोधित कर,
कहे सेठ ने वचन अनूप ।
महापुरुष के पावन मन का,
होता है, ऐसा शुभ रूप ॥

खुश रहो प्रिय बन्धुओ ! मैं तो सफर करता हूँ आज;
शीश अपना सत्य भगवन् की नजर करता हूँ आज !

आप लोगों का शुरू से क्रीत दास बना रहा;
याद रखना, प्रार्थना यह स्नेह धर करता हूँ आज !

गलतियाँ जो भी हुई हों, कीजिए कण-कण क्षमा;
भूत की भूलें सभी कुछ, दर गुजर करता हूँ आज !

प्रेम से रहना, न करना भूल कर झगड़ा फिसाद;
प्रेम सुख का मूल है, सन्देश-वर करता हूँ आज !

देह क्षणभंगुर न जाने छूट जाए कब कहाँ;
धर्म-हित मर कर स्वयं को मैं अमर करता हूँ आज !

अन्तिम कड़ियाँ सुनते-सुनते,
बहा स्नेह का सिन्धु अतल ।
हाहाकार मचा चहुँ दिश में,
गूँजा रोदन से नभ - तल ॥

देख सेठ की विकट दुर्दशा,
सिसक-सिसक सब रोते थे ।
आँखों से अविराम अश्रु,
निर्झर परिवाहित होते थे ॥

बोले "ठहरो सेठ हमें तुम,
कहाँ छोड़ कर जाते हो ?
सदा काल को हमें सर्वथा,
क्यों असहाय बनाते हो ?

पाएँगे जब कष्ट, भला फिर,
किसे गुहार सुनाएँगे ?
कहाँ प्रेम से सुखद,
सान्त्वनामय सहायता पाएँगे ?

आज हमारी चम्पा नगरी,
हा ! अनाथ बन जाएगी ।
संरक्षक के बिना नित्य,
नव कष्ट भयंकर पाएगी ॥

राजा का अन्याय निरन्तर,
भीषण बढ़ता जाता है ।
क्या करें और क्या नहीं करें,
कुछ भी न समझ में आता है ॥

देता है हा हंत ! आप-से,
सज्जन को भी शूली - दंड ।
राजगर्व में छका हुआ है,
बना हुआ है अति उद्दण्ड ॥

अन्तस्तल में धधक रहे हैं,
भीषण प्रतिहिंसा के भाव ।
राज-दंड से किन्तु त्रस्त हैं,
नहीं मुखोद्घाटन की ताब ॥"

धीर वीर था एक नागरिक,
गर्ज उठा कर दृढ़ हुँकार ।
देख सका वह नहीं पाशविक,
निर्दयतामय अत्याचार ॥

"दोषी था तो सेठ क्यों न,
न्यायालय के सम्मुख लाया ?
क्यों न दोष पूरा साबित कर,
जन-समूह को दिखलाया ?

केवल रानी के कहने पर,
कैसे शूली देता है ?

है यह सब षड्यन्त्र क्योंकि,
यह दुःखी जनों का नेता है ॥

अरे कायरो ! क्या रोते हो,
तन मन क्लीबों - जैसा धार ।
मर्द बने हो किस बिरते पर,
सौ-सौ बार तुम्हें धिक्कार ॥

चम्पापुर का प्राण तुम्हारे,
सम्मुख मारा जाता है ।
पत्थर से तुम खड़े, न कुछ भी,
किया कराया जाता है ॥

सदाचार साकार सुदर्शन,
उसकी यह दुरवस्था है ।
कहो, तुम्हारे फिर जीवन की,
कितनी चिर सद्वस्था है ?

होता है चहुँ ओर खुदी का,
तांडव न्याय न मिलता है ।
पशुओं से भी अधम आज,
हम सबका जीवन चलता है ॥

अंग राष्ट्र की कीर्ति एक दिन,
फैली थी जगती तल में ।
आज कहीं भी पूछ नहीं है,
मरा चाहता है पल में ॥

भेड़ बकरियों जैसा कब तक,
जीवन भार निभाओगे ?
गूँगे बनकर 'म्याँ म्याँ' करते,
कब तक शीश कटाओगे ॥

उठो गर्ज कर, बनो न दब्बू,
सत्ता का गढ़ दहलादो ।
जनता की भी कुछ ताकत है,
मत्त भूप को दिखलादो ॥

जीवन का क्या मोह न्याय पर,
हँसते - हँसते मर जाओ ।
अमर शहीदों में स्वर्णाक्षर से,
निज नाम लिखा जाओ ॥"

ओजस्वी वक्तव्य सुना तो,
बिजली नस - नस दौड़ गई ।
जनता में विप्लव की भीषण,
आग सर्वतः फैल गई ॥

"पकड़ो, मारो इन दुष्टों की,
हड्डी - हड्डी चूर्ण करो ।
श्रेष्ठी को लो छुड़ा अभी,
जो करना है वह तूर्ण करो ॥"

युवकों का दल गर्जन करता,
सैनिक दल की ओर बढ़ा ।
रोम-रोम में बड़े वेग से,
प्रतिहिंसा का नशा चढ़ा ॥

सेठ सुदर्शन ने देखा जो,
रक्त-पात का विकट समय ।
बोले शान्ति-स्थापनाकारी,
वाणी स्नेह सुधारस - मय ॥

"ठहरो ठहरो, क्या करते हो ?
होते हो क्यों उत्तेजित ?

निरपराध हैं बधिक सिपाही,
करते हो क्यों उत्पीड़ित ?
स्वार्थ-विवश हैं, निंद्य,
पेट के लिए, सभी कुछ करते हैं ।
अन्तर में सब समझ रहे हैं,
किन्तु भूप से डरते हैं ॥

आज्ञा-पालन ही, सेवक का,
धर्म शास्त्र है बतलाते ।
क्रोधभाव अतएव श्रेष्ठ जन,
कभी न सेवक पर लाते ॥

पूर्ण शान्ति रक्खो, न कभी भी,
नाम मारने का लेना ।
बन्धु-रक्त से रंजित कर निज,
हस्त न मलिन बना लेना ॥

राजा क्या शूली देता है ?
यह सब कलिमल अपना है ।
स्वयं हेतु हूँ निज सुख दुख का,
व्यर्थ अन्य का सपना है ॥

मेरा अपराधी इस जगती,
तल पर कोई नहीं कहीं ।
प्रतिहिंसा का मेरे अन्तस्तल,
में अणु भी भाव नहीं ॥

राजा भ्रम भूला है, कुछ भी,
नहीं सत्य का पता उसे ।
दया करें भगवान, नहीं हो,
कष्ट-प्रद यह खता उसे ॥

रक्तपात करना पशुता है,
मात्र भीरुता है मन की ।
सज्जनता से अरि को वश,
करना है शोभा सज्जन की ॥

भौतिक बल अन्यत्र कहीं भी,
नहीं शक्ति से झुकता है ।
आध्यात्मिक बल के ही सम्मुख,
आकर आखिर थकता है ॥

राजा, तो क्या अखिल विश्व भी,
नतमस्तक हो जाता है ।
आध्यात्मिकता का जब सच्चा,
भाव हृदय में आता है ॥

गर्ज रहा है अब असत्य,
पर, अन्त सत्य ही चमकेगा ।
तम का पर्दा फाड़ पूर्ण,
आलोक प्रभाकर दमकेगा ॥

भौतिक बल ही प्रबल शत्रु है,
बसा तुम्हारे अन्तर में ।
हो सकते हो इसे जीत कर,
विजयी तुम संसृति - भर में ॥

बचो, क्रोध, कादर्य, अनय,
दुःसाहस की दुर्बलता से ।
बनो समर्थ अजेय अहिंसक,
दृढ़ अध्यात्म - सबलता से ॥

मुझ पर है यदि प्रेम अटल,
तो मेरा ही पथ अपनाओ ।

बदले का संकल्प न रक्खो,
दुख न किसी को पहुँचाओ ॥"

अपने प्रिय श्रेष्ठी की वाणी,
सुनकर जनता शांत हुई ।
'धन्य अलौकिक शांति क्षमा' के,
रव की नभ में गूंज हुई ॥

सत्पुरुषों के विमल हृदय की,
जग में कहीं न समता है ।
प्राण शत्रु पर भी करुणा,
रखने की कैसी क्षमता है ॥

जल्लादों ने हाँका गर्दभ,
चली सवारी आगे को ।
छोड़ चले हा हंत सेठजी,
अपने नगर अभागे को ॥

जग-भक्षक श्मशान-भूमि में,
घटा शोक की छाई है ।
चारों ओर मृत्यु की छाया,
कण - कण मध्य समाई है ॥

प्राणनाशिनी लोह-निर्मिता,
शूली झल - झल करती है ।
सेठ पास में आए तो,
जनता अति कल-कल करती है ॥

देख प्रजा-वैकल्य सेठ जी,
मन्द हास्य हँस कर बोले ।
वाम-हस्त से पकड़ा शूली-दंड,
अभय हृत्पट खोले ॥

बन्धुओ ! शूली नहीं, यह स्वर्ग का शुभ द्वार है;
सत्य की पूजा का अभिनव यज्ञ-पथ तैयार है !

ख़ौफ कुछ भी है नहीं, मेरे हृदय में मौत का;
हर्ष का उमड़ा है चहूँ दिश पूर्ण पारावार है;

मैं मरूँगा क्या, मेरी खुद मौत ही मर जायगी;
मोक्ष में अमरत्व का मेरे लिए भंडार है ।

मौत ऐसी भूमि-तल पर मिलती है सौभाग्य से;
सादर स्वागत हजारों, लाखों, क्रोड़ों बार है ।

फूल-सी कोमल, सुतीक्ष्ण नौंक लगती है मुझे;
स्वर्ण-सिंहासन पे चढ़ने की अज़ीब बहार है ।

आप क्यों रोएँ, बजाएँ तालियाँ, खुशियाँ करें;
आपका भाई शहीदों में हुआ शुम्मार है ।

धर्म पर मरना न आया, काम-भोगों पर मरा,
मानवी तन पाके भी संसार में भू-भार है ।

सत्य खुल कर ही रहेगा, दूर होगा सब असत्,
देखना कुछ क्षण में होगा भूप खुद बेदार है ।

आप लोगों को मैं अन्तिम भेंट में क्या आज दूँ,
श्रेष्ठ यह आदर्श ही मम प्रेम का उपहार है ।

धर्म-वीर का धर्म-रहस्य से,
पूरित था वक्तव्य महान् ।
झलक रही थी निर्भयता,
था भय का कहीं न नामनिशान ॥

जीवन पाने पर तो सारी,
दुनिया हड़-हड़ हँसती है ।

वन्दनीय है वह जो मरने,
पर भी रखता मस्ती है ॥

आँधी के चक्कर में टीबे,
बालू के उड़ जाते हैं ।
लेकिन, दुर्गम, उन्नत पर्वत,
कभी न हिलने पाते हैं ॥

जनता की आँखों के आगे,
मौत नाचती फिरती थी ।
किन्तु सुदर्शन के मुख पर तो,
अविचल शान्ति उमड़ती थी ॥

जल्लादों ने शूली की इस,
ओर योजना शुरू करी ।
और उधर कर जोड़ सेठ ने,
देव - वन्दना शुरू करी ॥

अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !
अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !

पावन परम-पुनीत अनन्त अचल,
होता कलिमल का न ज़रा भी दखल;
ज्ञान-ज्योति-प्रकाशित त्रिलोकी सकल,
मनसा वचसा अलक्ष्य स्वरूप विमल ।
अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !

प्रेमी भक्तों का प्यारा तू भगवान है,
ज्योतिः -पुंज असीम प्रकाशमान है;
सारे विश्व का ज्ञाता अमित ज्ञान है,
सब से बढ़ कर निराली तेरी शान है ।
अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !

पाया भेद तेरा कि बेड़ा पार है,
अक्षय अतुल सुखों का तू भंडार है;
तेरे भक्तों का नित्य ही जयकार है,
होती अणु भी कहीं भी नहीं हार है ।
अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !

भगवन् ! भक्त-हृदय की यह है भावना,
सब जन सुख से करें नित्य धर्म-साधना,
पापाचरणों की दिल में न हो कामना,
सारा जगत सुखी हो, न हो यातना ।
अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !

दया-मूर्ति ! मैं दर पै तुम्हारे खड़ा,
भव-व्याधि के व्रण से हृदय है सड़ा;
सभी भाँति विमूर्च्छित मुमूर्षु पड़ा,
कीजे करुणा, समय है अतीव कड़ा !
अर्हम्, अर्हम्, अर्हम्, अर्हम् !

मन्त्र-मुग्ध थी सारी जनता,
भक्ति - घटा घहराई थी ।
पाप-ताप-मूर्च्छित हृदयों में,
शान्ति - सुधा लहराई थी ॥

सागारी संथारा करके किया,
पाप का ताप शमन ।
द्वेष भाव रक्खा न किसी पर,
उमड़ा मैत्री का शुभ घन ॥

जय-जय ध्वनि के साथ सेठ,
शूली पर चढ़ते जाते थे ।
मंत्र-राज नवकार उच्चतम,
ध्वनि से पढ़ते जाते थे ॥

प्राण-हारिणी तीक्ष्ण अणी का,
भाग भयंकर आया है ।
पल में नक़्शा बदला अभिनव,
दृश्य दृष्टि में आया है ॥

स्वप्न-लोक की भाँति,
लौह-शूली का दृश्य विलुप्त हुआ ।
स्वर्ण-स्तम्भ पर रत्न-कान्तिमय
स्वर्णासन उद्भूत हुआ ॥

सेठ सुदर्शन बैठे उस पर,
शोभा अभिनव पाते हैं ।
श्रीमुख शशि पर अटल शान्ति है,
मन्द - मन्द मुसकाते हैं ॥

मन्द सुगन्ध समीर चली,
नव पुष्प-राशि की वृष्टि हुई ।
पलक मारते मरघट में,
शुभ स्वर्गलोक-सी सृष्टि हुई ॥

विस्तृत नभ में सुर-यानों का,
जमघट खूब सुहाया है ।
देववृन्द के साथ इन्द्र ने,
चरणों शीश झुकाया है ॥

जहाँ-तहाँ बस सुर-ललनाएँ,
दुन्दुभि वाद्य बजाती हैं ।
जय जय के गंभीर घोष से,
गगनांगण गुंजाती हैं ॥

हर्षमत्त जन-वृन्द, सिन्धु की,
भाँति हिलोरें लेता है ।
धन्य-धन्य एवं जय जय से,
गगन उठाये लेता है ॥

❖

सर्ग बारह

आदर्श क्षमा

अखिल विश्व में धर्म का तेज प्रताप अखंड;
विद्रोही भी चरण में गिरते त्याग घमंड ।

न्यायालय में खबर लगी,
तो भूपति भी अति घबराया ।
नंगे सिर नंगे पैरों ही,
ज्यों-था - त्यों दौड़ा आया ॥

हाथ जोड़ कर 'क्षमा-क्षमा',
करता चरणों में आन पड़ा ।
भयकातर आँखों से झर-झर,
अश्रु - मेघ भी बरस पड़ा ॥

पशु-बल कितना ही भीषण हो,
किन्तु अन्त में होती हार ।
प्राण-शत्रु भी चरणों में गिर,
आखिर बोलें जय-जयकार ॥

अटल सत्य का पक्ष चाहिए,
फिर दुनियाँ में क्या भय है ?
मानव तो क्या, अखिल विश्व पर,
विजय अन्त में निश्चय है ॥

स्वर्णासन पर बैठ गर्व से,
भूप पूर्व क्या था बकता ?
आज देखिए, वही नम्र हो,
चरण पकड़ कर क्या कहता ?

"बुद्धि भ्रष्ट हो गई सर्वथा,
नहीं जरा सोचा - समझा ।
अन्दर बाहिर श्वेत हंस को मैं
काल कौव्वा समझा ॥

भूल गया सब न्याय-व्यवस्था,
पागलपन अति ही छाया ।
पापिन ने मँझधार डुबोया,
जाल बिछाया, बहकाया ॥

पूछताछ कुछ भी न करी,
बस झट शूली का हुक्म दिया ।
धर्म-मूर्ति श्रीमान् आपका,
अति भीषण अपमान किया ॥

अपराधी हूँ बेशक भारी,
किन्तु दास को क्षमा करें ।
प्राणदान हैं हाथ आपके,
दयासिन्धु ! बस दया करें ॥"

पास खड़ा था इन्द्र, कोप से,
पूरित सारा गात हुआ ।
वज्र घुमाकर बोला "क्यों अब,
मृत्यु - त्रस्त बदजात हुआ ॥

राजा होकर ऐसा भारी,
जुल्म प्रजा पर करता है !
नारी की बातों पर चलकर,
दुष्कृत सागर भरता है ॥

सत्य-मूर्ति श्रीमान् सुदर्शन,
को भी शूली लटकाया ।
पत्थार-सा जड़ बना जरा भी,
नहीं हृदय में भय खाया ॥

सावधान हो दुष्ट, पाप का,
फल अब शीघ्र चखाता हूँ ।
मार वज्र तन चूर्ण बनाकर,
नामो निशां मिटाता हूँ ॥"

आँखें पथरा गईं भूप की,
कम्पित वपु बेहोश हुआ ।
कौन मृत्यु के सम्मुख आकर,
तुच्छ कीट बाहोश हुआ ॥

विकट परिस्थिति देख सुदर्शन,
करुणा से छलछला रहे ।
स्वर्गाधिप से स्नेह-सुधा,
संसिक्त वचन इस भाँति कहे ॥

"देवराज ! यह क्या करते हो,
किस पर वज्र चलाते हो ?
पामर दीन हीन का नाहक,
क्यों तनु-रक्त बहाते हो ॥

अज्ञानी है, भ्रम भूला है,
दयापात्र है अतः सदा ।
ज्ञानी जन भ्रम-भूलों पर यों,
क्रोध - भाव लाते न कदा ॥

और अगर अपराधी है,
तो भी मेरा अपना है ।
आप दंड दें, यह तो बिल्कुल,
व्यर्थ पंच खुद बनना है ॥"

उपकारी पर उपकारी तो,
सारा ही जग बनता है ।
किन्तु सुदर्शन अपकारी पर,
भी उपकारी बनता है ॥"

तदनन्तर राजा को संबोधन,
कर प्रेम - सुधा घोली ।
बाह्य भाव से नहीं, हृदय की,
विमल भावनाएँ खोलीं ॥

"पूर्ण प्रेम के साथ क्षमा है,
द्वेष न कुछ भी लाऊँगा ।
राजन् ! बन्धुभाव से वह,
पहले - सा स्नेह निभाऊँगा ॥

दोष आपका नहीं लेश है,
यह सब निज कर्मों की लीला ।
कर्म-दोष से पड़ जाता है,
काला शुद्ध स्वर्ण पीला ॥

राजन् निमित्त मात्र ही तुम हो,
जो कुछ है सो मेरा है ।
रोते क्यों हो, गया निशातम,
आया स्वर्ण - सवेरा है ॥

धन्य धन्य के घोष से, गूँजा सभी प्रदेश;
भक्तिमग्न जन-वृन्द में, था अति हर्षावेश ।
राजा ने विनयावनत, होकर की अरदास;
'पुर में शीघ्र पधारिए, हरिए शोकत्रास ।'

बोले सेठ "मुझे पुर में,
जाने से कुछ इन्कार नहीं ।
जननी जन्मभूमि से बढ़ कर,
अन्य जगत में सार नहीं ॥

किन्तु, आपको पहिले मेरा,
एक कार्य करना होगा ।
अभयदान देकर रानी का,
मरण - त्रास हरना होगा ॥

मेरे कारण से कोई भी,
यदि प्राणी पीड़ा पाए ।
देख न सकता हूँ, उसमें भी,
यदि अबला मारी जाए ॥"

राजा ने कर जोड़ सेठ से,
कहा "आप क्या करते हैं ?
कौन शिष्ट, आचार-भ्रष्ट,
कुलटा की रक्षा करते हैं ?

पापाचारी का न क्षणिक भी,
जग में जीवन अच्छा है ।
पापाचार बढ़ेगा अति ही,
अस्तु मरण ही अच्छा है ॥

अगर दंड दे दुष्टा को,
दुष्फल न चखाया जाएगा ।
तो फिर जग में सती धर्म,
का ध्वज कैसे फहराएगा ॥

और हुक्म करिएगा,
यह तो बस कृपया रहने दें ।
दोष आपको क्या इसमें,
मुझको नृप शासन करने दें ॥"

बोले श्रेष्ठी "प्राण-दंड से,
क्षमा कहीं श्रेयस्कर है ।
राजन् ! प्राण दंड का देना,
अति ही घोर भयंकर है ॥

दोष-नाश के लिए अगर,
उस दोषी को ही मार दिया ।
तो, यों समझो रोग-नाश के,
लिए रुग्ण ही नष्ट किया ॥

प्राण-दंड से भौतिक तन का,
मात्र रक्त बह सकता है ।
क्षमा दंड से ही पापी का,
पाप-मैल धुल सकता है ॥

एक दुष्ट यदि सज्जन बनकर,
जीवित जग में रह पाए ।

तो अपने से लाखों को,
सत्पथ का पथिक बना जाए ॥"

आखिरकार सेठ का आग्रह,
राजा ने स्वीकार किया ।
'धन्य दयासागर' का सब,
जनता ने जय-जयकार किया ॥

मन्त्रीश्वर की याद हुई,
झट कारागृह से बुलवाए ।
देखा जो अति दिव्य अलौकिक,
दृश्य अमित विस्मय पाए ॥

चमक उठा मुखचन्द्र-बिम्ब,
कुछ नहीं हर्ष का पार रहा ।
रोम-रोम में अटल सत्य की,
श्रद्धा का परिवाह बहा ॥

हर्षमत्त हो लगे बोलने,
जय पर, जय के घोष महान् ।
लाखों स्वर से प्रतिध्वनित हो,
गूंज उठा ब्रह्माण्ड - वितान ॥

सत्य की जग में एक विजय है !
तम का पर्दा फटा सत्य का हुआ दिनेश उदय है !
सत्य-कवच है जिसने पहना वह सर्वत्र अभय है,
अत्याचारी दंभ-चक्र की होती अन्त प्रलय है,
सत्य की जग में एक विजय है !
सत्य रंग में रँगा हुआ यदि दृढ़ विश्वस्त हृदय है,
और चाहिए फिर क्या जग में, क्षेम कुशल अक्षय है,
सत्य की जग में एक विजय है !

बना शीघ्र शूली से कैसा आसन कांचनमय है,
सत्य-प्रताप असंभव, संभव होता, अति विस्मय है,
सत्य की जग में एक विजय है !

धन्य सुदर्शन ! सत्य आपका अचल चमत्कृति-मय है,
त्याग और वैराग्य भाव का उमड़ा सिन्धु सरय है;
सत्य की जग में एक विजय है !

सदाचार की जीवित प्रतिमा, यह प्रत्यक्ष-विषय है,
चंपा का गुण-गौरव फैला त्रिभुवन में अतिशय है;
सत्य की जग में एक विजय है !

जयकारों के बीच सचिव का,
जब वक्तव्य समाप्त हुआ ।
क्षमायाचना करने का तब,
नृप को अवसर प्राप्त हुआ ॥

हाथ जोड़कर माफी माँगी,
अपने निंद्य दुराग्रह की ।
क्षमादान कर मंत्री ने भी,
रक्खी टेक सदाग्रह की ॥

श्रेष्ठी की आज्ञा से राजा,
मंत्री दोनों गले लगे ।
स्नेह-क्षीरसागर लहराया,
द्वेष - भाव सब दूर भगे ॥

स्वर्ण - सिंहासन-सहित,
पट्ट हस्ती पर सेठ सवार हुए ।
पीछे उमड़ चला जन-सागर,
सादर जय - जय-कार हुए ॥

नानाविध शस्त्रों से सज्जित,
सेना आगे चलती है।
बजते हैं बहु बाद्य, मधुरतम,
पुष्प - सुराशि उछलती है॥

राजा स्वयं सेठ के मस्तक,
पर निज छत्र लगाता है।
और सुबुद्धि मंत्रीश्वर हर्षित,
होकर चँवर डुराता है॥

पाठक-वृन्द ! हर्ष का सागर,
इधर उमड़ता आता है।
और उधर भी देखें,
क्योंकर हर्षार्णव लहराता है॥

अन्तरंग था सेवक श्रीयुत,
सेठ सुदर्शन का प्यारा।
देखा जो यह दृश्य,
हृष्ट हो अपने मन में यों धारा॥

"स्वामी से पहले जाकर मैं,
करूँ सूचना हर्षमयी।
आनन्दित होंगी सेठानी,
मातृ - स्वरूपा स्नेह-मयी॥"

स्वामी अपने धर्म-कर्म में,
दृढ़, दयालु जो होता है।
वेतन-भोगी नौकर को भी,
निज-कुल जन ही जोता है॥

'मैं मालिक हूँ, यह गुलाम है',
दृष्टि न हर्गिज रखता है ।
मानवता के दृष्टिकोण से,
अन्तर - भाव परखता है ॥

सेवक भी स्नेहार्द्र-वंश में,
एकमेक - हो जाता है ।
निज स्वामी के सुख-दुख में,
सुख - दुख की धार बहाता है ॥

अस्तु, सेठ का दास शीघ्र ही,
श्रेष्ठी - गृह दौड़ा आया ।
जो कुछ बीता हाल साफ,
सब सेठानी को बतलाया ॥

विश्वासी नौकर से जब यह,
सुना हाल, तो हर्ष अपार ।
रोम-रोम में बही प्रेम की गंगा,
जिसका वार न पार ॥

ध्यान खोल कर एक-एक कर,
ज्ञात करीं बातें सारी ।
द्वार-देश पर जय घोषों की,
गूँजी वाणी तब प्यारी ॥

स्वर्ण-थाल में शीघ्रतया शुभ,
मंगल द्रव्य सजाया है ।
बाहर आकर प्राणनाथ का,
स्वागत साज रचाया है ॥

स्वर्णासन पर गजारूढ़ जब,
पति के दर्शन किए पुनीत ।

चित्त चमत्कृत हुआ मधुरतम,
गूँज उठा स्वागत संगीत ॥

पधारो, स्वागत, प्राणाधार !

अद्‌भुत धर्म-महत्व दिखाया,
शूली स्वर्णासन प्रगटाया,
दर्शनार्थ सुरपति चल आया,
छोड़ कर देवालय दरबार !
पधारो, स्वागत, प्राणाधार !

अटल, अचल, दृढ़ अपने प्रण में,
पैर न रक्खा पापाङ्गण में,
गूँजी अधिकाधिक क्षण-क्षण में,
सत्य की अति पावन जयकार !
पधारो, स्वागत, प्राणाधार !

आध्यात्मिक बल कैसा भारी,
अन्तर में दृढ़ समता धारी,
भौतिक बल ने हिम्मत हारी,
देखकर स्तब्ध हुआ संसार !
पधारो, स्वागत, प्राणाधार !

कैसा प्रेम-पयोनिधि उमड़ा,
दूर हुआ सब रगड़ा-झगड़ा,
सत्य पुण्य-पथ सबने पकड़ा,
पाप का रहा नहीं कुविचार !
पधारो, स्वागत, प्राणाधार !

राष्ट्र - भाल उन्नत सगर्व है,
मंत्र-मुग्ध जन-वृन्द सर्व है,
आज प्रेम का परम पर्व है,
हर्ष का कुछ भी वार न पार !
पधारो, स्वागत, प्राणाधार !

जयघोषों के बीच सेठजी,
गज पर से नीचे उतरे ।
मिले परस्पर दम्पति सोत्सुक,
हृदय हर्ष से अति उभरे ॥

कैसा था आनन्द, स्नेह का दृश्य,
कलम क्या लिख सकती ?
स्नेह-सिन्धु की माप विश्व में,
शक्ति न कोई कर सकती ॥

देख प्रेम पति-पत्नी का,
सब लोग अमित अचरज पाए ।
हो गृहस्थ, तो ऐसा हो,
वर्ना क्यों जग में ललचाए ॥

दो तन हैं पर एक प्राण है,
कैसा प्रेम बरसता है ।
स्वर्गलोक सा सौम्य सदन है,
नित-नव मधुर सरसता है ॥

स्वर्गलोक भी क्या कर सकता,
श्रेष्ठी के गृह की समता ।
पुण्यक्षय वाँ होता है,
याँ संचय की नित तत्परता ॥

मुक्त-कंठ से कीर्ति-गान,
नर नारी समुदित करते थे ।
बीच-बीच में जयकारों से,
गगन विगुंजित करते थे ॥

श्रेष्ठि-भवन के प्रांगण में,
जन-सिन्धु उमड़ता था भारी ।
राजाज्ञा से बैठ गए सब,
लगी सभा अति ही प्यारी ॥

स्वर्णासन पर गए बिठाए,
दोनों दम्पति सुखकारी ।
शोभा कुछ भी कही न जाए,
शोभा थी अति ही न्यारी ॥

राजा और प्रजा का आग्रह,
श्रेष्ठी ने स्वीकार किया ।
सदाचार पर दृढ़ होने का,
ओजस्वी वक्तव्य दिया ॥

तदनन्तर दधिवाहन राजा,
और प्रजा ने गुण गाए ।
अन्तर के सब कलिमल धोकर,
शुद्ध भाव सब ने पाए ॥

तदनु गृहागत जनता का,
स्नेह उचित सत्कार हुआ ।
बिदा हुए सब लोग सेठ का,
घर - घर जय - जयकार हुआ ॥

पाठक ! धर्मवीर नर जग में,
यों जय-जय- श्री पाते हैं ।
अपने आप विरोधी के,
छल - छन्द नष्ट हो जाते हैं ॥

सेठ सुदर्शन अपने पथ पर,
अटल अचल सोल्लास रहे।
दुःख-सिन्धु से पार हुए,
चहुँ ओर सौख्य के स्रोत बहे ॥

स्वर्गोपम सुख-पूर्ण सदन में,
सुखी सपरिजन रहते हैं।
धर्म ध्यान में अधिकाधिक,
अब तत्पर सब दिन रहते हैं ॥

❖

सर्ग तेरह

अङ्गराष्ट्र का उत्थान

पापी अपने पाप से, हो जाते खुद नष्ट;
छल-बल-पूरित शेमुषी, बनती बिल्कुल भ्रष्ट ।
अभया का सुनिए उधर, हुआ बुरा क्या हाल;
मृत्यु जाल में फँस गई, भूल गई सब चाल ।

धूर्त-शिरोमणि रंभा दासी,
पहुँची थी शूली-स्थल पर ।
अभया ने सब बात देखने,
भेजी थी दिल में डर कर ॥

शूली से जब स्वर्णासन बदला,
तो कंपित गात हुआ ।
राजा पहुँचा तो सब कुछ ही,
होश - हवास समाप्त हुआ ॥

आँख बचा कर भगी शीघ्र,
गति से नृप - मंदिर में आई ।
आँसू बरस रहे नयनों से,
अभया से यों बतलाई ॥

"सर्वनाश हो गया स्वामिनी !
बैठी हो क्या हर्षान्वित ।

मृत्यु शीश पर घूम रही है,
रह न सकोगी अब जीवित ॥

'क्या कुछ हुआ ?' हुआ क्या,
अपना पापपूर्ण घट फूट गया ।
माया-निर्मित तव अभेद्य गढ़,
हाय पलक में टूट गया ॥

शूली स्वर्णासन में बदली,
बाल न बाँका ज़रा हुआ ।
देव सहायक हुए, धर्म का,
जग में कंचन खरा हुआ ॥

राज जी भी नंगे पैरों,
पहुँचे हैं भय-भ्रान्त विकल ।
पड़े हुए हैं सेठ-चरण में,
उपल-मूर्ति से अटल अचल ॥

'दुराचारिणी अभया है' यह,
कहते हैं सब नर-नारी ।
भेद खुल गया है छल बल का,
निन्दा फैली अति भारी ॥

राजा आने वाला है,
अब काल सीस मँडराता है ।
जीवन-रक्षा का कोई भी,
पथ न ध्यान में आता है ॥"

रानी ने यह कथन सुना तो,
कांपा थर - थर तन सारा ।

सन्नाटा-सा बीत गया,
बह चली नेत्र से जल-धारा ॥

आँखें पथरा गईं और,
मस्तक ने चक्कर खाया है।
मक्कारी बदकारी का सब,
दृश्य सामने आया है ॥

"हाय ! हाय !! भगवान् ! पड़ा,
यह क्या इकदम उलटा पाँसा ।
सेठ साफ बच गया हुआ,
मम जीवन का ही साँसा ॥

क्या मुझको ही अपने खोदे,
कूँवे में पड़ना होगा ?
हाँ, अवश्य ही दुष्फल अपनी,
करनी का भरना होगा ॥

कपिला की संगति में पड़कर,
जीवन भ्रष्ट बनाया, हा !
रानी बन कर भी अपयश का,
काला दाग लगाया, हा !!

क्या जाने, अब किस कुमौत से,
राजा मुझको मरवाए ?
शूली दे अथवा नंगी कर,
के कुत्तों से नुचवाए ?"

कहते-कहते अभया रानी,
पड़ी फर्श पर गश खाकर ।
फूटा सिर, बह चला रक्त,
तन लगा तड़फने इधर-उधर ॥

रानी की यह विकट दशा लख,
रंभा अति ही घबराई ।
माया-जाल गूँथने वाली,
तीक्ष्ण बुद्धि बस चकराई ॥

और मार्ग कुछ नहीं समझ में,
आया, छिप कर भाग गई ।
सदा काल के लिए मोह चंपा,
चंपा नगरी का त्याग गई ॥

पापी-संग सहायक भी,
हर्गिज न अछूता रहता है ।
लौह-संग में अग्नि-देव भी,
ताड़न तर्जन सहता है ॥

होते हैं जो मार्ग-भ्रष्ट,
वे नित गिरते ही जाते हैं ।
ठोकर पर ठोकर खाकर भी,
नहीं सँभलने पाते हैं ॥

एक गर्त से निकल दूसरे,
अन्धगर्त में गिरते हैं ।
जीवन भ्रष्ट बनाने का पथ,
अन्य मलिन ही गहते हैं ॥

धक्के खाती रंभा पहुँची,
नगर पाटली - पुत्रक में ।
पास रही हरिणी वेश्या के,
लगी उसी फिर लपझप में ॥

अभया का फिर हाल हुआ क्या,
चलिए नरपति - मन्दिर में ।
पाप-दूत ने दिया न रहने,
अभया को तन - मन्दिर में ॥

मूर्च्छा भंग हुई रानी की,
रंभा नजर न आई है ।
बिना सहायक के दुगुनी,
तब शोक - घटा घहराई है ॥

"हा रंभा ! तू भी यों मुझको,
छोड़ कष्ट में चली गई ।
आखिर धोखा दिया भयंकर,
तेरी भी मति भ्रष्ट हुई ॥

तेरे ही बल पर मैंने यह,
झूठा झगड़ा खड़ा किया ।
आनंद में थी, व्यर्थ स्वयं को,
कष्ट - जाल में फँसा लिया ॥

तू रहती तो बच भी जाती,
अब कैसे बच पाऊँगी ?
इस संकट में जीवन-रक्षक,
और कहाँ से लाऊँगी ?

अपमानित होकर मरना तो,
जग में महा भयंकर है ।
'राजा जी मारें' इससे तो,
स्वयं मरण श्रेयस्कर है ॥"

अभया ने मरने को दिल में,
साहस की बिजली भर ली ।

छत से रस्सी बाँध, लगा गल,
फाँसी निज हत्या करली ॥

पश्चात्ताप किया था, फलतः,
देवयोनि में जन्म लिया ।
किन्तु कलंकारोपण ने,
अतिनिन्द्य व्यन्तरी रूप दिया ॥

ठाठ - बाठ थे अभया के,
मन - मोहन सुर - बाला जैसे ।
आज देखिए फाँसी पर,
मृत देह झूलती है कैसे ?

पापवाटिका कुछ ही दिन तक,
खूब फूलती - फलती है ।
कर्मोदय का हिम पड़ने पर,
क्षण - भर में ही जलती है ॥

श्रेष्ठी जी के धाम से, लौटे श्री भूपाल;
सोच रहे थे चित्त में, अभया का यों हाल ।

"अभया का अपराध सर्वथा,
ही अक्षम्य भयंकर है ।
श्रेष्ठी को लांछित करने का,
किया पाप प्रलयंकर है ॥

पातिव्रत की मूर्ति बनी थी,
मुझको भ्रम में फँसा लिया ।
पड़ा रहा व्यामोह-जाल में,
नहीं ज़रा भी ध्यान दिया ॥

कैसे-कैसे घोर भयंकर,
दुष्कृत मुझसे करवाए ।
सच्चरित्र श्रेष्ठी जैसे भी,
सज्जन शूली चढ़वाए ॥

प्राण-दंड से न्यून दंड मैं,
कभी न अभया को देता ।
दयामूर्ति यदि सेठ क्षमा का,
वचन न मेरे से लेता ॥

संसारी जीवन चंचल है,
बनते और बिगड़ते हैं ।
धर्मी, पापी बनते हैं,
फिर पापी, धर्मी बनते हैं ॥

श्रेष्ठी का आदर्श देख कर,
अभया अब तो सँभलेगी ।
लज्जित होकर स्वयं स्वयं पर,
स्वयं कुपथ सब तज देगी ॥

श्रेष्ठी जी को वचन दिया है,
अतः न मर्म दुखाऊँगा ।
द्वेष भाव अणु भी न रखूँगा,
सादर स्नेह निभाऊँगा ॥"

करते-करते यों विचार,
निज राजमहल में नृप आए ।
देखा दुःखद दृश्य, दया के,
भाव हृदय में भर आए ॥

"काल-चक्र ! तेरी भी जग में,
क्या ही अद्‌भुत महिमा है ।

पार न पा सकता है कोई,
कैसी विकट वक्रिमा है ॥

विश्वमोहिनी सुर-बाला सा,
कैसा सुन्दर कोमल तन !
आज झूलता है फाँसी पर,
करता तन मन में कंपन !!

श्रेष्ठी ने तो क्षमा दिला कर,
दंड - यंत्रणा सभी ढँकी ।
पाप-भार से दबी स्वयं ही,
नहीं ज़रा भी उभर सकी ॥

'यादृक् करणं तादृग् भरणं',
उक्ति न अणु भी मिथ्या है ।
जीवन-पथ में पाप-पुण्य-गति,
रत्ती - रत्ती तथ्या है ॥

मोह-विकल संसार, जाल,
मकड़ी के तुल्य बनाता है ।
अन्य फँसाने जाता है, पर,
आप स्वयं फँस जाता है ॥"

बुला दासियों को रानी का,
शव नीचे उतराया है ।
कौन-कौन दासी गायब है ?
यह भी पता लगाया है ॥

रंभा का जब पता न पाया,
भेद समझ में आया है ।

रानी ने उसके द्वारा ही,
यह षड्यंत्र कराया है ॥

अभया रानी और सेविका,
रंभा की यह बुरी ख़बर ।
फैल गई द्रुत विद्युत-गति से,
चंपा नगरी में घर-घर ॥

सभी प्रजाजन ने सत्पथ की,
एक - स्वर से बोली जय ।
और दंभ की, दुराचार की,
दुष्कृत पथ की बोली क्षय ॥

भोग-वासनाओं पर सहसा,
घृणा - भाव सब में छाए ।
सदाचार-जीवन के अविचल,
भाव हृदय में सरसाए ॥

किं बहुना, अभया की,
राजाजी ने मृत-अन्त्येष्टि करी ।
फैल रही थी जो भी गड़बड़,
उसकी शीघ्र समाप्ति करी ॥

अंग राष्ट्र के पतन का, कंटक हुआ समाप्त;
होता है अब देखिए, कैसे गौरव प्राप्त ?

न्यायालय में एक समय,
नरपति ने सेठ बुलाया है ।
जनता-हितकर वह पहले का,
कार्य ध्यान में आया है ॥

भूप तथा श्रेष्ठी ने मिलकर,
किया खूब गंभीर विचार ।
बनी योजनाएँ जिनसे हो,
अंगराष्ट्र का पुनरुद्धार ॥

एकमात्र श्रेष्ठी को सौंपा,
उक्त कार्य का सारा भार ।
श्रेष्ठी ने भी दिखा दिया,
यों भूतल पर ही स्वर्ग उतार ॥

नगर-नगर में ग्राम-ग्राम में,
खुले हजारों विद्यालय ।
क्या युवती, क्या युवक सभी,
पाते हैं शिक्षा नित्याक्षय ॥

प्रातः सायं ज्ञान-मन्दिरों में,
ज्ञानार्जन होता है ।
नानाविध ग्रन्थों का वाचन,
कुमति - कालिमा धोता है ॥

औषध-गृह में मुफ्त औषधी,
मिलती है सर्वत्र सदा ।
व्याधि-ग्रस्त कोई भी रहता,
नहीं विवश संत्रस्त कदा ॥

शासन और न्याय सब प्रायः,
पंचायत ही करती थीं ।
कष्टों की मरु-धरणी में,
सुख - नदी - तरंगें भरती थीं ॥

भार करों का वृथा प्रजा पर,
था वह बिल्कुल दूर किया ।

चमक उठा व्यापार अंग का,
लक्ष्मी ने आ बास किया ॥

कोई भी बेकार युवक नर,
नहीं कभी भी रहता है ।
यथा योग्य निज कार्य नित्य ही,
पाकर सुख से हँसता है ॥

होता था न प्रकट या गुपचुप,
कहीं कभी भी मदिरा - पान ।
नाम मात्र से भी मदिरा के,
समझा जाता था अपमान ॥

जूआ, चोरी, और परस्त्रीगमन,
सर्वथा नहीं रहे ।
अंग देश में स्वच्छ समुज्वल,
सदाचार के स्रोत बहे ॥

स्वप्नलोक में भी दुःखों की,
कभी न छाया पड़ती थी ।
रात्रि दिवश जनता में केवल,
सुख की वीणा बजती थी ॥

न्याय-निपुण अधिकारी-गण में,
रिश्वत का था नाम नहीं ।
क्रीतदास थे जनता के था,
अकड़-धकड़ का नाम नहीं ॥

धन्य सुदर्शन ! तूने अपना,
ध्येय पूर्ण कर दिखलाया ।
अंग राष्ट्र का बन उद्धारक,
अमर सुयश जग में पाया ॥

क्या गाँवों, क्या नगरों में,
सब ओर सेठ की पूजा है।
सफल किया नर जन्म आप-सा,
जग में और न दूजा है॥

सर्ग चौदह

पूर्णता के पथ पर

नर जीवन की पूर्णता, नहीं मात्र गृह-क्षेत्र;
मुनिपद धारण श्रेय है, उघड़ें अन्तर नेत्र ।
जीवन के अपराह्न में, लेकर पूर्ण विराग;
उभय पक्ष साधन किए, धन्य सेठ महाभाग ।

धर्मघोष मुनिराज एकदा,
चम्पापुर में आए हैं ।
बाहर उपवन में ठहरे,
जन दर्शन कर हर्षाए हैं ॥

सेठ सुदर्शन जी भी पहुँचे,
वन्दन कर पूछी साता ।
धार्मिक जन का गुरु-दर्शन से,
हृदय हर्ष से भर आता ॥

धर्मघोष गुरु ने परिषद् में,
दिया स्वप्रवचन निर्वृति-मय ।
प्रवचन क्या था अमृत बरसा,
सबका गद्‌गद् हुआ हृदय ॥

धर्म की पूँजी कमा ले,
कमाले जीवा, जीवन बन जायेगा !

जीवन-पट है बेरँग कब से ?
संयम-रंग चढ़ाले, चढ़ाले जीवा !

जग-उपवन में अपना जीवन;
पुष्प सुगन्ध बनाले, बनाले जीवा !

अखिल विश्व के दलित वर्ग की;
सेवा का भार उठाले, उठाले जीवा !

सोया पड़ा है अन्तर चेतन;
सत्संग बैठ जगाले, जगाले जीवा !

मोह-पाश के दृढ़ बन्धन से;
अपना चित्त छुड़ाले, छुड़ाले जीवा !

हो तू भला इतना कि शत्रु भी,
चरणों में शीश झुकाले, झुकाले जीवा !

राग द्वेष का जाल बिछा है,
दूर से राह बचाले, बचाले जीवा !

'अमर' सुयश के बाद्य बजेंगे,
सत्य की धूनी रमाले, रमाले जीवा !

सेठ सुदर्शन जी ने पूछा,
पूर्व जन्म का अपना हाल ।
गुरुवर बोले अवधि ज्ञान से,
भेद पूर्व तमसावृत काल ॥

"पूर्व जन्म में सेठ आप थे,
ग्वाल 'सुभग' आज्ञाकारी ।
चंपा में निज-जनक श्राद्ध,
'जिनदास' सेठ के प्रिय भारी ॥

सेठ निजालय पर गायों का,
करते थे बहु प्रतिपालन ।

धनाभाव से त्रस्त दीन जन,
भी पाते थे पय पावन ॥

गायों को तू सुभग सर्वदा,
वन में लेकर जाता था ।
प्रेम भाव से चरा-फिरा कर,
निज कर्त्तव्य निभाता था ॥

एक समय की बात, विपिन में,
ध्यानावस्थित मुनि देखे ।
वृक्षमूल में शान्त-मूर्ति दृढ़,
पद्मासन से थे बैठे ॥

मंत्र-मुग्ध सा हुआ सुभग,
श्रीमुनिवर के कर प्रिय दर्शन ।
शान्त, सौम्य हो गया आप ही,
तन्मय होकर चंचल मन ॥

उच्चस्वर से मंत्रराज का,
पढ़कर प्यारा प्रथम चरण ।
गगनाङ्गण में उड़े तपस्वी,
लगा विलम्ब न कुछ भी क्षण ॥

ग्वाल सुभग भी चकित हुआ,
सुन लगा उसी दिन से रटने ।
श्वास-श्वास के साथ मधुर,
झनकार लगी क्रमशः बढ़ने ॥

चमत्कार प्रत्यक्ष आँख से,
देख किसे विश्वास न हो ?
अन्धकारमय हृदय, गुहा में,
क्यों फिर ज्ञान प्रकाश न हो ?

पता लगा जब श्रेष्ठी को तो,
हृदय हर्ष से भर आया ।
जैन धर्म के श्रावक-पद का,
क्रिया - काण्ड सब समझाया ॥

देकर सुविधा सभी तरह की,
धर्म मार्ग में लगा दिया ।
भेद भाव रक्खा न रंच भी,
श्रेष्ठ स्वधर्मी बना दिया ॥

एक दिवस सानन्द सुभग,
वन में जब गाय चराता था ।
बहती सरिता पास एक थी,
सुन्दर दृश्य सुहाता था ॥

स्नान कार्य के हेतु, वृक्ष पर,
चढ़ कूदा सरिता जल में ।
जलाच्छन्न था तीक्ष्ण ठूँठ,
वह लगा सुभग-उदरस्थल में ॥

शुभ भावों से मरा और,
जिनदास सेठ के जन्म लिया ।
पूर्व जन्म के स्वामी को ही,
जनक - रूप में प्राप्त किया ॥

श्रेष्ठिवर्य तुम वही सुभग हो,
क्या से क्या ऐश्वर्य मिला ।
ग्वाल बाल से बने श्रेष्ठिवर,
पूर्णतया सुख - पुष्प खिला ॥

पूर्वजन्म की संस्कृति का,
इस भव में विस्तार हुआ ।

सदाचार की ज्योति जगादी,
विस्मित सब संसार हुआ ॥

धर्माराधन कभी न निष्फल,
तीन काल में होता है ।
एक मात्र इस ही के बल पर,
विश्ववन्द्य नर होता है ॥"

धर्म-घोष गुरु की वाणी से,
पूर्व जन्म का चित्र समस्त ।
प्रतिबिम्बित हो उठा सेठ के,
मानस - दर्पण में अभ्यस्त ॥

परिषद् में हो खड़े सेठ ने,
कहा—"धन्य गुरु ज्ञानी हैं ।
जो कुछ तुमने कही, स्मृति में,
झलकी सभी निशानी हैं ॥

पूर्व जन्म में जो कुछ बोया,
उसका फल याँ पाया है ।
जीवन-पथ में सभी ठौर,
'करनी' का गौरव गाया है ॥

अस्तु आपकी सेवा में अब,
अग्रिम जन्म सुधारूँगा ।
त्याग शीघ्र गृहवास, श्रेष्ठतम,
मुनिपद का व्रत धारूँगा ॥"

धर्मघोष गुरु बोले-"सहसा,
नहीं शीघ्रता करिएगा ।
समझ बूझकर भली भाँति,
इस पथ पै निज पद धरिएगा ॥

साधु-वृत्ति का ले-लेना,
कुछ बच्चों का है खेल नहीं ।
भोग-विलासी जीवन का याँ,
खाता बिल्कुल मेल नहीं ॥

त्याग-क्षेत्र के पूर्ण परीक्षित,
योद्धा तुम हो, नहीं कसर ।
किन्तु हमारा संयम-पथ भी
बड़ा विकट है, श्रेष्ठि-प्रवर ॥

भिक्षु-मार्ग पर चलना तो बस,
नग्न खड्ग पर धावन है ।
जीवन्मृत ही चलता इस पर,
जो बहिरन्तः पावन है ॥"

भक्ति-नम्र हो कहा सेठ ने,
"प्रभो ! आपका सत्य वचन ।
संयम भार हिमाचल-सा है,
उठा न सकता दुर्बल मन ॥

आदि काल से, किन्तु, मनुज,
ही इसे उठाता आया है ।
साहस हो तो, कुछ भी दुष्कर,
कार्य न जग में पाया है ॥

मैं भी तो हूँ मनुज साहसी,
क्यों न भिक्षुपथ ग्रहण करूँ ?
अन्तस्तल से सदाकाल को,
क्यों न पापमल हरण करूँ ?

प्रभो ! आपकी सेवा में रह,
कर सब कुछ बन जाएगा ।
अधम सुदर्शन भी मुनि-पद के,
उच्च शिखर चढ़ जाएगा ॥"

वन्दन कर सोल्लास सेठ जी,
अपने घर पर आए हैं ।
स्नेहवती सेठानी को निज,
भाव साफ बतलाए हैं ॥

बात अचानक सुन पहले तो,
तन मन की सुध भूल गई ।
शोक-सिन्धु में बही, विरह के,
दुख की मन में शूल गई ॥

बार-बार जब श्रेष्ठी जी ने,
प्रेम - भाव से समझाई ।
हर्षान्वित हो तब मुनिपदवी,
लेने की आज्ञा पाई ॥

राजा और प्रजाजन ने भी,
समझाने का यत्न किया ।
किन्तु अन्त में श्रेष्ठी का,
सुविचार सभी ने मान लिया ॥

पुत्रों को निज पद देकर,
सब गेह - कार्य सँभलाया है ।
न्याय नीति के साथ प्रजा के,
हित का पथ समझाया है ॥

नगर-निष्क्रमण समारोह के,
साथ हुआ, वन में आए ।
धर्म-घोष गुरुवर से मुनिवर-
पद के सुन्दर व्रत पाए ॥

छोड़ दिया सम्बन्ध आज से,
वक्र-मूर्ति जग - माया का ।
काम सँभाला विश्व-हितंकर,
तजा मोह भी काया का ॥

राजा और प्रजा-जन महती,
संख्या में समुपस्थित थे ।
श्रेष्ठी-मुख से सदुपदेश,
सुनने को अति - उत्कंठित थे ॥

ओजस्वी मीठी वाणी से,
नव मुनि ने उपदेश किया ।
सभी जनों के हृदय-क्षेत्र में,
बोधामृत- नद बहा दिया ॥

प्रतिक्षण क्षीण जीवन में, अमर खुद को बना देना;
भविष्यत की प्रजा को, अपने पद चिन्हों चला देना ।

दुखी दलितों की सेवा में, विनय के साथ जुट जाना;
अखिल वैभव बिना झिझके, बिना ठिठके लुटा देना ।

असत्पथ भूल करके भी, कभी स्वीकार न करना;
प्रलोभन में न फँसकर, सत्य पथ पर सिर कटा देना ।

परस्पर प्रेम से रहना, जगत में प्रेम जीवन है,
बचाना प्रेम को, चाहे अमित सर्वस गँवा देना ।

क्रमागत कुप्रथाओं का, भ्रमों का, मूढ़ताओं का;
अधः पाती निशां मानव-जगत में से मिटा देना ।

जगत में सत्य ही केवल, अमर अविचल अटल बल है;
अतः निज शीष भगवन् सत्य के आगे झुका देना ।

सहस्राधिक प्रयत्नों से 'अमर' कर्त्तव्यच्युत जग में;
नया जीवन, नया उत्साह, नया युग ला दिखा देना ।

श्री गुरुवर के साथ सुदर्शन,
मुनिवर ने अब किया विहार ।
ज्ञानाभ्यासी बने श्रेष्ठ फिर,
किया सत्य का विमल प्रचार ॥

देश-देश में, नगर-नगर में,
गाँव - गाँव में घूम फिरे ।
पा कर के सद्बोध आप से,
भव्य अनेकानेक तिरे ॥

योग साधना हेतु एकदा,
श्री गुरुवर से किया विचार ।
दृढ़ साहस का अवलंबन कर,
एकल पडिमा की स्वीकार ॥

शून्य वनों में, शैल-गुहाओं में,
अब निर्भय रहते थे ।
आत्म-ध्यान में मस्त,
प्रकृति के नाना संकट सहते थे ॥

मास-आदि अनशन व्रत का,
जब कभी पारणा आता था ।

पावन दर्शन श्री मुनिवर का,
नगर - लोक तब पाता था ॥

नगर पाटलीपुत्र मनोहर,
एक बार आए मुनिवर ।
घूम रहे थे मंथर गति से,
भिक्षाशन लेते घर - घर ॥

रंभा ने देखा तो अति ही,
चकित खड़ी-की-खड़ी रही ।
पूर्व दुःख की ज्वाला भड़की,
रहा द्वेष का पार नहीं ॥

पूर्व वैर-प्रतिशोधनार्थ,
वेश्या से बात बनाती है ।
सत्पथ-भ्रष्ट बनाने को,
अब फिर से जाल बिछाती है ॥

बातों ही बातों में कुछ,
ऐसा चित्र चलाया है ।
नारी वर्णन पर से वर्णन,
त्रियाचरित का आया है ॥

"अखिल विश्व में त्रियाचरित,
का बल ही दुर्जय होता है ।
शीघ्र यथेच्छित त्रिभुवन-भर,
का पुरुषवर्ग वश होता है ॥

पर ऐसे भी धार्मिक जन हैं,
जो न कभी वश में आते ।

त्रिया-चरित के छल-बल सारे,
शीश पीट कर रह जाते ॥"

कहा तुनक कर हरिणी ने,
"यह कभी नहीं हो सकता है।
कैसा भी हो पुरुष, किन्तु,
वह हम पर सब खो सकता है ॥"

रंभा ने इस पर श्रेष्ठी का,
सारा वृत्त सुनाया है।
डर न जाय, अतएव शूली,
आदिक का हाल छुपाया है ॥

और कहा—"देखो, वह श्रेष्ठी,
आज साधु बन कर फिरता।
भिक्षा माँग रहा घर-घर से,
उत्कट है तप की स्थिरता ॥"

वेश्या हँस कर बोली "रंभा !
तूने भी यह खूब कही।
राजमहल में इन बातों की,
आ सकती है गन्ध नहीं ॥

मैं गणिका हूँ, परम्परा से,
यह ही पेशा मेरा है।
जगत्प्रतिष्ठित सुजनों को भी,
फँसा जाल में गेरा है ॥

कैसे झटपट रूप-दीप पर,
यह पतंग भी गिरता है ?
काम असीम महासागर है,
देखूँ कैसे तिरता है ?"

वेश्या ने जाकर मुनिवर को,
भक्ति - भाव से प्रणति करी ।
"मुझ घर भी भिक्षार्थ पधारें,"
साग्रह यों विज्ञप्ति करी ॥

सरल चित्त मुनिराज, पता क्या,
उन्हें, तुरंत पधार गए ।
वेश्या ने समझा, अब क्या है,
सभी मनोरथ पूर्ण हुए ॥

तीन दिवस तक मुनिवर जी को,
रुद्ध किया, घर में रक्खा ।
काम-वासना के निज कुत्सित,
जाल फँसाने में रक्खा ॥"

जो करना था किया, किन्तु,
आखिर में हरिणी स्वयं थकी ।
अटल मेरु-सा हृदय व्रती का,
तिलतुष - मात्र न डिगा सकी ॥

पूर्णरूप से हुई प्रभावित,
हाथ जोड़ कर नमन किया ।
"क्षमा करें अपराध, आपको,
मैंने जो यह कष्ट दिया ॥"

शान्ति मूर्ति ने क्षमादान कर,
दिया एक धार्मिक प्रवचन ।
जाग उठा सोते से रंभा,
वेश्या का द्रुत अन्तर मन ॥

श्रावक के व्रत धारण कीने,
पूर्ण शील का नियम लिया ।
दोनों ने ही दुराचार का,
पंथ सदा को त्याग दिया ॥

आध्यात्मिक बल अनुपम बल है,
कहीं न इसकी समता है ।
पापात्मा को धर्मात्मा,
करने की अविचल क्षमता है ॥

दो जीवों का महाभयंकर,
पतन - गर्त से कर उद्धार ।
क्षमा और करुणा के सागर,
मुनि ने वन को किया विहार ॥

पूर्णता

पूर्ण त्याग की साधना, करती कलिमल चूर्ण;
हो जाता पामर मनुज परमात्मा प्रतिपूर्ण ।

मानव - भव के तुल्य विश्व में,
और न वस्तु अनूठी है ।
जो कुछ महिमा है, इसकी है,
और बात सब झूठी है ॥

स्वर्ग-लोक के श्रेष्ठ देव भी,
एतदर्थ नित झुरते हैं ।
पाएँ कब नर-जन्म मुक्तिप्रद,
यही कामना करते हैं ॥

जीवात्मा बन बहूरूपिया,
लख चौरासी रुलता है ।
मुक्ति-द्वार यदि खुलता है,
तो मात्र यहीं पर खुलता है ॥

मानव-भव का लक्ष्य नहीं है,
भव - सागर में रुक रहना ।
जाना परले पार, भले ही,
कष्ट पड़े कुछ भी सहना ॥

वन्दनीय हैं पुरुषरत्न वे,
करते हैं जो इन्द्रिय - जय ।
नष्ट समूल वासना-विष कर,
पाते मुक्ति अमृत निर्भय ॥

पूर्ण त्याग का मार्ग, सुदर्शन
मुनि ने भी अपनाया है ।
पाया है लोकोत्तम जिन-पद,
सफल नृजन्म बनाया है ॥

वेश्या को प्रतिबोध दान कर,
वन में आसन लाया है ।
आत्म-चिन्तना करते-करते,
यह विचार मन आया है ॥

"अरे सुदर्शन ! अब भी तुझ में,
बहुत बड़ी दुर्बलता है ।
जहाँ-कहीं भी तू जाता है,
यह प्रपंच क्यों चलता है ?

राग-द्वेष की निंद्य भावना,
तुझे देख क्यों उठती हैं ?
व्यर्थ विचारी महिलाएँ क्यों,
काम - शल्य से कुढ़ती हैं ?

बाहर जो होता है उसका,
बीज हृदय में ही होता ।
प्रायः निज मन ही प्रतिबिम्बित,
औरों के मन में होता ॥

अस्तु, हृदय से पाप कालिमा,
का सब चिन्ह मिटाऊँगा ।
पूर्णतया परिशोधन कर,
स्फटिकोज्वल स्वच्छ बनाऊँगा ॥"

आध्यात्मिक संकल्पों का,
जब हुआ हृदय में शुभ विस्तार ।
जग - प्रपंच - मूलापहारिणी,
अटल प्रतिज्ञा की स्वीकार ॥

"अब से केवल-ज्ञानोदय तक,
नहीं नगर में जाऊँगा ।
भोजनादि सब अटवी में ही,
पथिकादिक से पाऊँगा ॥"

शून्य भयावह वन में निर्भय,
सिंह - समान विचरते हैं ।
उग्र तपश्चरण के द्वारा,
कर्माकुर क्षय करते हैं ॥

एक समय की बात,
एक कानन में पहुँचे मुनिवर ।
ध्यान लगाया सघन कुंज में,
चंचल चित्त अचंचल कर ॥

अभया रानी बनी व्यंतरी,
इसी विपिन में फिरती थी ।
क्रूर-भाव के कारण याँ भी,
पाप - पिंड ही भरती थी ॥

अकस्मात एक दिन फिरती,
मुनि - समीप में आ निकली ।

दर्श-मात्र से वैर जगा, कर
पूर्व - स्मरण अति ही मचली ॥

"अरे वही है, यह तो पापी,
सेठ सुदर्शन अभिमानी ।
मैंने सब कुछ कहा करा,
पर एक नहीं इसने मानी ॥

रानी थी मैं तो, मेरे को,
इसी धूर्त ने नष्ट किया ।
भय-विह्वल कर आत्म-हनन का,
अति ही भीषण कष्ट दिया ॥

आदि काल का धर्म-धूर्त,
फिर आज साधु बन बैठा है ।
धर्म-मूढ़ लोगों को ठगने,
मायार्णव में पैठा है ॥

पूर्व जन्म की आज वासना,
पूर्ण करूँगी जी-भर कर ।
देवी हूँ, अति दिव्य शक्ति है,
क्यों न बनेगा मम किंकर ॥"

वन में मादक सरस सुगन्धित,
ऋतु बसंत लहराया है ।
त्याग और वैराग्य उड़ाने,
का सब साज सजाया है ॥

माया-बल से अनुपमेय अति,
सुन्दर रूप बनाया है ।
गगनांगण से उतर विमोहक,
हाव - भाव दर्शाया है ॥

"तपोमूर्ति ऋषिराज ! तुम्हारा,
धन्य - धन्य तप धन्य अमल ।
पूर्ण-पुण्य के योग इसी,
भव में ही द्रुत हुआ सफल ॥

स्वर्ग-लोक से स्वयं इन्द्र ने,
मुझको यहाँ पठाई है ।
तप-द्वारा जो सुख चाहा था,
दासी देने आई है ॥

आँख खोल कर ज़रा देखिए,
देवी कैसी होती हैं ?
पूर्ण-तपोधन संत जनों को,
सुखप्रद कैसी होती हैं ?"

ध्यान-मग्न मुनि के मानस में,
आया अणु भी क्षोभ नहीं ।
प्रलयानिल से मेरु महीधर,
हिल सकता है भला कहीं ॥

कालरात्रि-सम क्रुद्ध पिशाची,
का अभया ने रूप धरा ।
काँप उठे वन, गिरि, पृथ्वीतल,
प्रलयकाल - सा दृश्य करा ॥

नग्न खड्ग युग कर में लेकर,
बड़े जोर से धमकाया ।
भीषण माया-जाल बिछाकर,
पूर्ण मृत्यु - भय दिखलाया ॥

दैवी छल-बल गर्वमत्त,
इस ओर भयंकर बाधक है ।
शान्तमूर्ति उस ओर अकेला,
निश्चल निष्कल साधक है ॥

वज्र-भित्ति पर लौह-घात का,
होता है क्या कभी असर ?
संसारी छल-बल से क्यों कर,
डिग सकता है मुनि-प्रवर ?

ज्यों-ज्यों अभया अधिकाधिक,
अत्युग्र ताड़ना करती है ।
त्यों-त्यों मुनि-मानस में,
शुक्ल-ज्योति अतीव उभरती है ॥

पूर्ण दशा पर शुक्ल-ध्यान-बल,
पहुँचा तो भगवान हुए ।
केवलज्ञान अखंडित प्रगटा,
नष्ट अखिल अज्ञान हुए ॥

केवल-महिमा करने को सुर-
वृन्द स्वर्ग से आया है ।
दुंदुभि-बाद्य बजे नभ-तल में,
गन्धोदक बरसाया है ॥

देव-सभा में श्रीजिन बोले,
वाणी मीठी सुधा - भरी ।
आत्म-शुद्धि का मार्ग बताया,
धर्मामृत की वृष्टि करी ॥

"अखिल विश्व में एक मात्र,
निज कर्मों की ही प्रभुता है ।
कर्म-पाश में फँसा विवश,
जग पाता गुरुता लघुता है ॥

प्रति-आत्मा में बीज छुपे हैं,
निष्कलंक भगवत्ता के ।
कर्म-उपाधि नष्ट हो, तब हों,
दर्शन निजी महत्ता के ॥

आप और मैं सभी एक हैं,
मात्र उपाधि मिटा दीजे ।
भोग-मार्ग तज क्रमशः निज को,
श्रीभगवान बना लीजे ॥

गुण पूजा का यह उत्सव है,
अतः सुगुण अपना लीजे ।
'परगुण-महिमा निज-गुण प्रगटाने,
में है' न भुला दीजे ॥"

वाणी सुनकर हृदय ब्यंतरी,
का भी सहसा पलट गया ।
दुर्भावों का क्षेत्र, बना अब,
सद्भावों का क्षेत्र नया ॥

हाथ जोड़कर श्रीजिन प्रभु से,
क्षमा प्रार्थना की सादर ।
पश्चात्ताप किया कलि-मल का,
आत्म - भावना - विमलंकर ॥

क्षमा-सिन्धु श्री जिन ने भी,
परिपूर्ण क्षमा का दान किया ।

बोधिज्ञान दे अभयात्मा को,
दृढ़ सम्यकत्वी बना दिया ॥

देवों को जब पता चला तो,
चहुँ दिशि जय-जयकार हुआ ।
धन्य-धन्य है वीतरागता,
अभया का उद्धार हुआ ॥

अन्धकार-संत्रस्त प्रजा को,
ज्ञान-ज्योति - रवि दिखलाया ।
घूम-घूम कर देश-देश में,
सदाचार - पथ बतलाया ॥

धर्मान्दोलन करते-करते,
मोक्ष - काल जब आया है ।
योग-निरोधन कर अजरामर,
'सिद्ध' 'मुक्त' पद पाया है ॥

एक ग्रन्थ अनुसार पाटलीपुत्र,
नगर ही मन - भावन ।
सुप्रसिद्ध निर्वाण-भूमि है,
सेठ सुदर्शन की पावन ॥

❖

सर्ग सोलह

उपसंहार

पाठक वृन्द ! सुदर्शन जीवन,
पूर्ण आपके सम्मुख है ।
आदि, मध्य, पर्यन्त जो कि,
सर्वत्र कुवृत्त पराङ्मुख है ॥

मानव-जीवन किस प्रकार से,
सफल बनाया जाता है ?
सेठ सुदर्शन का जीवन,
बस वही प्रकार बताता है ॥

विश्व-पूज्य मानव की केवल,
यही एक है दुर्बलता ।
कामवासना का दावानल,
मन में अति भीषण जलता ॥

श्रेष्ठी-सम जो काम-जयी बन,
मन पर अंकुश रखता है ।
वह नर, नारायण बनता है;
तीन लोक में पुजता है ॥

उक्त कथा के अन्य दृश्य भी,
शिक्षाप्रद हैं अति भारी ।

धैर्य, दया, उपकार आदि गुण,
जीवन में हैं सुखकारी ॥

धर्म-कथा का पठन श्रवण,
कब अन्तर कलिमल धोता है ?
जब चरित्र नायक का जीवन,
निज - जीवन में होता है ॥

पाठक वृन्द ! आपसे केवल,
यह मम नम्र निवेदन है ।
सदाचार के पथ पर चलिए,
सुधरे जिससे जीवन है ॥

स्थानकवासी-जैन-संघ में,
पूज्य 'मनोहर' बड़ - भागी ।
धीर, वीर, गम्भीर, संयमी,
हुए प्रतिष्ठित जग त्यागी ॥

कष्ट सहन कर किए अनेकों,
ग्राम नगर जन - प्रतिबोधित ।
गच्छ आपसे चला 'मनोहर',
संयम - पथ में अतिशोभित ॥

शास्त्राभ्यासी उग्र तपस्वी,
पूज्यश्री मुनि मोतीराम ।
उक्त गच्छ के थे अधिनायक,
पाया यश अनुपम अभिराम ॥

अन्तेवासी श्रेष्ठ आपके,
पृथ्वीचन्द्र जी गुरुवर हैं ।
जैनाचार्य पदालंकृत हैं,
गच्छ मनोहर दिनकर हैं ॥

श्रद्धास्पद गणिवर्य श्याममुनि,
भद्रस्वभावी गुण - धारी ।
पूज्य श्री के साथ हुआ है,
चौमासा मंगल - कारी ॥

भारत-भूषण शतावधानी,
रत्नचन्द्र जी गुजराती ।
साथ विराजे हैं सद्‌गुण की,
महिमा है अति मन - भाती ॥

पूज्य-पाद-पद्यालि 'अमर' मुनि,
ने यह ग्रंथ बनाया है ।
सेठ सुदर्शन जी का जीवन,
चरित - काव्य में गाया है ॥

विक्रमाब्द शर निधिनिधि विधु में,
शुक्ल अष्टमी मंगसिरमास ।
पूर्ण किया है नगर आगरा,
'लोहामंडी' में सोल्लास ॥

❖

परिशिष्ट

चमकते मोती

('धर्म-वीर सुदर्शन' तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' में से)

अखिल विश्व में सब से ऊँचा-
जीवन, मानव जीवन है।
मानवता ही सबसे बढ़कर,
अजर, अमर अक्षय धन है॥ (१)

मानव-तन पाकर भी जो नर,
जीवन उच्च बना न सका।
समझो चिन्तामणि पाकर वह,
निज-रंकत्व छिपा न सका! (२)

सज्जन औ, दुर्जन का अन्तर,
स्पष्ट शास्त्र यह कहता है।
एक प्रशंसा सुन हर्षित हो,
एक दुःख में बहता है॥ (३)

प्राणों की आहुति देकर भी-
दुःखियों का दुःख दूर करे।
हानि देखकर पर की सज्जन-
अपने मन में झूर मरे॥ (४)

सागर-सम गम्भीर सज्जनों,
का होता है अन्तस्तल।

पी जाते हैं विष-वार्ता भी
चित्त नहीं करते चंचल ॥ (५)

दुर्जन की क्या उलटी गति है,
हानि देखकर खुश होता ।
हिम प्रस्तर ज्यों धान्य नष्टकर,
खुद भी गलकर तन खोता ! (६)

हृदय कपट से मुख दुर्वच से
नेत्र क्रोध से भरा हुआ ।
रहता है दिन रात दुष्ट का,
अन्तर जीवन सड़ा हुआ ॥ (७)

वर्षा में सब वृक्षावलियाँ-
हरी भरी हो जाती हैं ।
किन्तु जवासे की शाखाएँ
नित्य सूखती जाती हैं ! (८)

स्वार्थ-सिद्ध हो तदपि न सज्जन,
पाप-पंक में फंसता है ।
साधारण जन स्वार्थ-पूर्ति के-
लिए विवश हो धँसता है ॥ (९)

दुर्जन जन की कुछ मत पूछो,
बिना प्रयोजन ही पापी ।
पाप-गर्त में हंस-हंस गिरता,
कैसा-जीवन अभिशापी ? (१०)

सज्जन कर उपकार किसी पर
नहीं याद मन में लाते ।

मात्र निमित्त समझते खुद को,
भाग्य उसी का बतलाते ॥ (११)

वही श्रेष्ठ है मूक भलाई,
जिसमें गर्व नहीं होता ।
अहंकार से मलिन धर्म तो-
बीज पाप का ही बोता ॥ (१२)

सज्जन तो होते हैं चन्दन
महक न निज कम कर सकते ।
अंग विभेदक खर कुठार का-
मुख सुगंध से भर सकते ॥ (१३)

एक देव है मानव, जिसके-
मिलने से सब प्रमुदित हों ।
एक रुद्र दानव है मानव,
देख जिसे सब दुःखित हों ॥ (१४)

सज्जन दुर्जन दोनों जग में-
भिन्न प्रकृति के हैं स्वामी ।
एक जलज है कमल, एक है-
जौंक रक्त का अनुगामी ॥ (१५)

कदाग्रहों में पड़ मानव का-
चित्त विकल हो जाता है ।
जान बुझकर भी सत्पथ को
कभी न अपना पाता है ॥ (१६)

दुराग्रही जन सदा-सर्वथा
अपने ही हठ पर अड़ते ।

न्याय और अन्याय भुलाकर
निन्द्य कदाग्रह पर लड़ते ॥ (१७)

दुराग्रही जन सद्गुण से भी
लखता है दुर्गुण केवल ।
दैन्य विनय को, दृढ़ता को मद,
सज्जनता को कहता छल ॥ (१८)

इस धरती पर वीर पुरुष ही,
नाम अमर कर जाते हैं ।
कायर नर तो जीवन भर बस-
रो-रोकर मर जाते हैं ॥ (१९)

वीर पुरुष ही रण में-
तलवारों के जौहर दिखलाते ।
मातृ-भूमि की रक्षा के हित-
जीवन भेंट चढ़ा जाते ! (२०)

वीर पुरुष ही उग्र घोर तप,
करते हैं अविचल निश्छल ।
चूर - चूर कर देते, गुरुतर,
चिर संचित - कर्मों के दल ॥ (२१)

वीर पुरुष ही मुक्त हस्त से,
करते अपना सब कुछ दान ।
दीन - दुःखी के लिए सर्वदा,
प्रस्तुत हों तरु-कल्प समान ॥ (२२)

जिस धन के हित मात-तात,
पत्नी प्रियजन जन तज देते ।

वह धन दानी वीर पलक में,
रज-कण तुल्य लुटा देते ॥ (२३)

वे कायर क्या देंगे जो-
मरते हों कौड़ी-कौड़ी पर ।
खाते - देते देख अन्य को,
जो कंपते हों थर थर थर ॥ (२४)

वीर पुरुष अपवाणी सुनकर
क्रोध नहीं मन में लाते ।
अविचल शांत प्रशांत सिंधु-से,
नहीं क्षुब्धता दिखलाते ॥ (२५)

शत-शत विद्युत पड़े सिंधु में,
क्या प्रभाव दिखलाएँगी ।
अतल जलधि में सदा काल के-
लिए शान्त सो जाएँगी ॥ (२६)

जीवन में सुख दुःखादिक का,
चक्र निरंतर फिरता है ।
मानव-पद के गुण-गौरव का
सफल परीक्षण करता है ॥ (२७)

वीर पुरुष की संकट में भी,
धर्म - भावना बढ़ती है ।
उलटी करने पर भी अग्नि-
ज्वाला ऊपर चढ़ती है ॥ (२८)

दुःख दुःख है, जब आता है,
सहन किया ही जाता है ।

नर-जीवन में धूप - छाँह-सा-
सुख-दुख का चिर नाता है ॥ (२९

बाहर के सुख में भी दुःख की,
काली घटा उमड़ती है।
कभी बाह्य दुःख में भी सुख की-
मधु - मय गंगा बहती है ॥ (३०

मानव चाहे कितना ही हो,
फंसा असह्य परिस्थिति में।
अन्तर का उद्दीप्त तेज-
छिपता न विपद की हुंकृति में ॥ (३१

लक्षाधिक नक्षत्र गगन में,
निज - निज किरणें चमकाते।
किन्तु प्रभा शशि-मण्डल की,
फीकी न जरा भी कर पाते ॥ (३२

संसृति में जितने भी अच्छे,
कार्य कष्ट से साध्य सभी।
बिना अग्नि में पड़े स्वर्ण का,
रूप दमकता नहीं कभी ॥ (३३

आँधी के चक्कर में टीबे,
रेती के उड़ जाते हैं।
लेकिन दुर्गम उन्नत पर्वत,
कभी न हिलने पाते हैं ॥ (३४

आँखों के खारे पानी से
किसका जग में काम चला ?

वज्र हृदय मानव ही देते,
हैं संकट की शान गला ॥ (३५)

निर्बलता, कायरता सारे,
दोषों की जननी होती।
न्याय-सिद्ध निर्भयता से ही,
विजय संकटों पर होती ॥ (३६)

जहाँ सत्य का तेज वहाँ पर
त्रास नहीं कुछ भी होता।
दुर्बल पापात्मा ही भय का-
दृश्य देखकर है रोता ॥ (३७)

अटल सत्य का पक्ष चाहिए,
फिर दुनिया में क्या भय है ?
मानव तो क्या अखिल विश्व में,
विजय अंत में निश्चय है ॥ (३८)

सत्य श्रवण की चीज नहीं है,
वह तो जीवन में उतरे।
तभी वस्तुतः उपयोगी हो,
जीवन 'अथ' से 'इति' सुधरे ॥ (३९)

मात्र सत्य ही अखिल विश्व में,
मानव-जीवन का बल है।
बिना सत्य के सबल-प्रबल भी-
तुच्छ सर्वथा निर्बल है ॥ (४०)

पशुबल आखिर पशुबल ही है,
कितनी ही वह भीषण हो।

सत्य धर्म की टक्कर खाकर,
क्षण में जर्जर, कण-कण हो ॥ (४१)

बाधाओं पर विजय प्राप्त कर,
जो निज सत्य निभाता है ।
नर से नारायण की पदवी
वही जगत में पाता है ॥ (४२)

आध्यात्मिक बल अनुपम बल है,
कहीं न इसकी समता है ।
पापात्मा को धर्मात्मा,
करने की अविचल क्षमता है ॥ (४३)

चमत्कार प्रत्यक्ष आँख से-
देख किसे विश्वास न हो ?
अंधकारमय हृदय गुहा में,
क्यों फिर ज्ञान-प्रकाश न हो ? (४४)

पाप कर्म के लिए जगत में,
सहते लाखों दाह सही ।
धन्य-धन्य वे जिन्हें धर्म हित,
दुःखों की परवाह नहीं ॥ (४५)

पापी बनने में दुःख क्या है ?
कोई भी बन सकता है।
पर धर्मी बनने में तन का,
शोणित कण-कण जलता है ॥ (४६)

धर्म वही है, जो संकट की,
घड़ियों में भी भंग न हो।

सुख की मस्ती में तो किसको,
कहो धर्म का रंग न हो ? (४७)

मानव को तो यत्न मात्र का,
स्वत्व मिला है जीवन में ।
फल मिलना अधिकार परे की-
बात भाग्य के बंधन में ॥ (४८)

धन दौलत पाकर भी सेवा
अगर किसी की कर न सका ।
दया भाव ला दुःखित दिल के-
जख्मों को जो भर न सका ॥ (४९)

वह नर अपने जीवन में,
सुख-शान्ति कहाँ से पाएगा ।
ठुकराता है, जो औरों को,
स्वयं ठोकरें खाएगा ॥ (५०)

जहाँ अग्नि पर रखा दुग्ध-
उत्तप्त अतीव उबलता हो।
जल के छींटों से कब तक के-
लिए शान्ति शीतलता हो ? (५१)

जो नर अपने मुख से वाणी-
बोल पुनः हट जाते हैं।
नर तन पाकर पशु से भी वे-
जीवन नीच बिताते हैं ॥ (५२)

मर्द कहा वे जो निज मुख से-
कहते थे सो करते थे ।

अपने प्रण की पूर्ति हेतु जो-
हंसते - हंसते मरते थे ॥ (५३)

गाड़ी के पहिए की मानिंद,
पुरुष वचन चल आज हुए।
सुबह कहा कुछ, शाम कहा कुछ,
टोका तो नाराज हुए ॥ (५४)

राज-मुकुट, धन, कंचन तजना,
सहज न कुछ भी जोर लगे।
किन्तु मान, अपमान द्वन्द्व में,
त्याग - विराग तुरंत भगे ॥ (५५)

पीतल, कोरा पीतल निकला,
जिसको कंचन समझा था।
गंध हीन किंशुक को पाटल-
पुष्प विमोहन समझा था ॥ (५६)

न्याय योग दोनों ही मन का-
साम्य रूप अपनाते हैं।
चंचल मन होने पर दोनों,
कार्य नष्ट हो जाते हैं ॥ (५७)

योगी जैसे प्राणि मात्र को,
अपने तुल्य समझता है।
शासक भी पर के सुख-दुःख का-
भान हृदय में करता है ॥ (५८)

न्यायालय में एक भाव से-
गीले - सूखे जलते हैं।
रिश्वत खा-खाकर अधिकारी,
न्याय नाम पर पलते हैं ॥ (५९)

प्रजाकष्ट - कर नित्य नए-
जालिम फर्मान निकलते हैं ।
टैक्स भार से दीन - हीन,
श्रमजीवी रो - रो घुलते हैं ॥ (६०

आशा पर मानव जीवन का,
पल - पल समय गुजरता है।
जीवन का बेड़ा आशा की-
लहरों पर ही चलता है ॥ (६१

सुख के उजले सुन्दर वासर,
संकट की काली रातें।
कट जाते हैं दिन-दिन वर्षों,
आशा की करते बातें॥ (६२

आशा बिना जिन्दगी की गति,
इंच न एक सरकती है।
जीवन की प्रत्येक क्रिया पर-
आशा नित्य झलकती है॥ (६३

कीड़े से ले इन्द्र वर्ग का,
सभी चराचर जग - प्राणी ।
आशा की छलना में चक्कर-
काट रहे यह ऋषि - वाणी॥ (६४

बाहर जो होता है उसका,
बीज हृदय में ही होता ।
प्रायः निज मन ही प्रतिबिम्बित,
औरों के मन में होता ॥ (६५

सुख-दुःख मन की झूठी चीजें,
प्रेम बड़ा सबसे ऊपर ।
आनंदित रहते हैं प्रेमी,
कोटि - कोटि संकट सहकर ॥ (६६)

पति-पत्नी में जहाँ प्रेम का,
अमृत सागर लहराता ।
दुःख द्वन्द्व क्या कभी भूलकर,
वहाँ फटकने भी आता ? (६७)

योग्य सहचरी पकार नर का,
हो जाता है दुःख आधा ।
पत्नी हो यदि कुटिल-कर्कशा,
सुख में भी दुःख की बाधा ॥ (६८)

सेवक भी स्नेहार्द्र वंश में,
एकमेक हो जाता है ।
स्वामी के सुख में सुख, दुःख में-
दुःख की धार बहाता है ॥ (६९)

भूमण्डल में मित्र शब्द भी,
कैसा जादू रखता है ।
स्नेह-सूत्र से दो हृदयों को,
अविकल बाँधे रखता है ॥ (७०)

सच्चा मित्र वही ग्रंथों में,
जगत् श्रेष्ठ कहलाया है ।
मैत्री के प्रण को जिसने,
'अथ' से 'इति' तलक निभाया है ॥ (७१)

दुग्ध और जल-सी अभिन्नता,
जरा दुई का नाम नहीं ।
प्रेम पंथ में स्वार्थ हलाहल-
का तो कुछ भी काम नहीं ॥ (७२)

पर्वत सम अपने दुःख को,
जो सर्षप जैसा गिनता है।
किन्तु मित्र दुःख सर्षप भरकी,
गिरि से समता करता है ॥ (७३)

जहाँ पसीना पड़े मित्र का,
अपना रक्त बहा डाले।
झेले अनहद कष्ट स्वयं पर,
सुखिया मित्र बना डाले ॥ (७४)

दब्बू या खुदगर्जी बनकर,
अपना धर्म न खोने दे।
और नहीं कर्तव्य - भ्रष्ट,
अपने मित्रों को होने दे ॥ (७५)

शिलान्यास संस्कृति का माता-
पिता सदा रख जाते हैं।
आगे चलकर पूर्वबीज ही,
यथाकाल फल लाते हैं ॥ (७६)

संतति के गुण-दोष अधिकतर,
मात - पिता पर निर्भर हैं।
संस्कारों के जीवन पट पर,
पड़ते चिन्ह प्रबलतर हैं ॥ (७७)

बालक कच्चा घट है उसको,
जैसा जी चाहे ढालें।
सुन्दर, सुघड़ बना लें अथवा,
कुटिल - कुरूप बना डालें॥ (७८)

दीन प्रजा के नौनिहाल,
शिक्षा - दीक्षा कब पाते हैं।
मूढ़ अशिक्षित रहने से फंस-
दुराचार में जाते हैं॥ (७९)

मानव-भव का सार यही है,
सदाचार को अपनाना।
पूर्ण रूप से शुद्ध - श्रेष्ठ,
आदर्श जगत में बन जाना॥ (८०)

मनुष्य क्या, अदृष्ट की जो-
ठोकरें न सह सके ?
मनुष्य क्या, जो संकटों के बीच,
खुश न रह सके ? (८१)

मनुष्य क्या, तूफान से जो,
क्षुब्ध भीम - सिन्धु में।
उठा के शीश वेग से न,
लहर बन के बह सके ? (८२)

मनुष्य क्या, जो चम-चमाते,
खंजरों की छाँह में।
हंसते - हंसते गर्ज के न-
सत्य बात कह सके ? (८३)

मनुष्य क्या, जो रोते-रोते,
चल बसे जहान से ।
दिखा प्रचण्ड आत्म - बल,
न भीष्म राह गह सके ॥ (८४)

भौतिक बल अन्यत्र कहीं भी,
नहीं शक्ति से झुकता है ।
आध्यात्मिक बल के ही सम्मुख,
आकर आखिर थकता है ॥ (८५)

रक्तपात करना पशुता है,
मात्र भीरुता है मन की।
सज्जनता से अरि को वश-
करना है, शोभा सज्जन की ॥ (८६)

दोष नाश के लिए दोष-
कर्त्ता को ही यदि मार दिया।
तो यों समझो रोग नाश के लिए-
रुग्ण ही नष्ट किया ॥ (८७)

एक दुष्ट यदि सज्जन बनकर,
जीवित जग में रह पाए ।
तो अपने से लाखों को,
सत्पथ का पथिक बना जाए ॥ (८८)

गर्ज रहा है अब असत्य पर,
अन्त सत्य ही चमकेगा ।
तम का पर्दा फाड़ पूर्ण-
आलोक प्रभाकर दमकेगा ॥ (८९)

बचो क्रोध, कादर्य, अनय-
दुःसाहस की दुर्बलता से।

बनो समर्थ अजेय अहिंसक-
दृढ़ अध्यात्म - सबलता से ॥ (९०)

क्रोध विचारों का नाशक है,
सम्यक् ज्ञान नहीं रहता।
क्या होगा फल आगे इसका,
कुछ भी भाव नहीं रहता॥ (९१)

आँख दोनों खोलकर,
कुछ देखले, कुछ सीखले ।
शिष्य बन, कुछ दिन प्रकृति का
स्वच्छ जीवन पाएगा ॥ (९२)

प्राप्त कर सद्गुण, न बन,
पागल प्रतिष्ठा के लिए ।
जब खिलेगा फूल, खुद-
अलि वृन्द आ मँडराएगा ॥ (९३)

फूल - फल से युक्त होकर,
वृक्ष झुक जाते स्वयं।
पाके गौरव मान कब तू,
नम्रता दिखलाएगा ? (९४)

रात - दिन अविराम गति से,
देख झरना बह रहा ।
या तू अपने लक्ष्य के प्रति,
यों उछलता जाएगा ? (९५)

दूसरों के हित 'अमर' जल-
संग्रही सरवर बना।
दीन के हित धन लुटाना,
क्या कभी मन भाएगा ? (९६)

❖